पाथेय

दयाशंकर मिश्र

"शेखर" के स्रष्टा
श्री अज्ञेय को

अपनी बात

हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार श्री जैनेन्द्रकुमार ने जिनकी प्रथम रचना 'मरीचिका' (उपन्यास) पढ़कर लिखा था—

"रचना अतिशय भावप्रवण और मोहक है। कल्पना का चमत्कार है। जगह-जगह वर्णन के शब्द-चित्र की छटा दर्शनीय बन आई है।"

अन्त में उन्होंने कामना की थी कि 'मरीचिका' लिखने वाली यह नई कलम हिन्दी पाठकों से स्वागत पायेगी।

उनकी उक्त कल की भविष्यवाणी आज 'सत्य' सिद्ध हो चुकी है। 'मरीचिका' से प्रभावित होकर पाठकों ने अनेकों पत्र लिखकर 'मरीचिका' के लेखक का वास्तविक परिचय चाहा है। लेखक का निश्चय था कि वह सदा अज्ञात रहकर अपने काल्पनिक नाम से ही लिखेगा।

किन्तु पाठकों के इन पत्रों से बाध्य होकर उन्होंने अपनी अगली कृतियों में वास्तविक नाम देना स्वीकार कर लिया है। 'अनीता' उनका काल्पनिक नाम है।

हिन्दी के इस उदीयमान उपन्यासकार का वास्तविक नाम है—श्री दयाशंकर मिश्र। 'मनोविज्ञान' आपका सदा प्रिय विषय रहा है। राजनीति के प्रत्यक्ष संघर्ष में अब तक का अधिकांश जीवन बीता है। 'दद्दाजी' नाम से अब तक बच्चों के लिये भी बहुत लिखा है।

जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी के पथिक 'श्री मिश्रजी' अब तक ग्यारह उपन्यास लिख चुके हैं। वे जिस वेग और प्रतिभा को लेकर उपन्यास के इस क्षेत्र में उतरे हैं, उसे देखकर मन बरबस उनके प्रति आशावान् हो उठता है।

—प्रकाशक

पार्श्व भूमि !

'पाथेय' जीवन के सत्य को पा लेने का प्रयास है। 'पाथेय' किसी के जीवन की अन्तर्व्यथा है !

'पाथेय' की कहानी का आधार है—जो हम अपनी आँखों से देखते हैं, वही 'सत्य' नहीं है। 'सत्य' उससे भिन्न भी हो सकता है। कितना कठिन है 'सत्य' को पा लेना ! जान लेना !!

जीवन मे जाने कितने असत्य, सौन्दर्य के झीने-झीने रंगीन आवरण में लिपटे हमारे सामने आते हैं और हम उनके वास्तविक रूप से बिना अवगत हुये ही उनमे अपना मन रमा लेते हैं। जब हमारी मान्यताओं से विपरीत एक दिन सत्य प्रगट होता है, तब सिर पकड़कर हम छटपटा उठते हैं ! सिर धुनते हैं !

तब कवि का हृदय चीरकर फूट पड़ती है—कविता !

चित्रकार तूलिका में अपने ही हृदय का रक्त भर-भरकर 'अमर-कला' का सृजन करता है ! तब गायक के स्वर मे भर उठती है मर्मस्पर्शिनी व्यथा ! जिसे सुन-सुनकर भावुक हृदय रो उठता है और मुझ जैसा कलाशून्य मानव टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में अपने रक्त के आँसुओं से लिख जाता है अपनी अन्तर्व्यथा की कहानी !

यही हैं जीवन-पथ पर सजग होकर चलने वाले मानव के भिन्न-भिन्न पाथेय—

कविता ! कला !! आँसू !!!

जीवन का यही सत्य है—'पाथेय' की पार्श्व-भूमि ! और उसकी कहानी का आधार—

कविता ! कला !! आँसू !!!

६१/३१ बाल विहार, रामजस रोड, करौल बाग, दिल्ली।

—लेखक

१

लगता है जैसे मेरा समस्त जीवन ाँसुओं का गीत है। सोचती हूँ—क्या ीवन भर इसी लय, इसी ताल में ि:शब्द, निर्वाक् इसी मूक गीत को ाये जाना होगा ? मरते दम तक पना कहने लायक क्या किसी को भी ीं न पा सकूँगी ?

याहप
० ०
आरती

मसूरी के ये उमड़ते-घुमड़ते बादल जैसे मेरे हृदयाकाश में ही ड़गड़ा उठे हैं और आँखों की कोरों से सहस्र धाराओं में बरस पड़ना ाहते हैं।

कभी याद आता है बचपन ! घर का चित्र अस्पष्ट ! न माँ की मता'' न पिता का प्यार''''दूसरों के घरों में घुट-घुट कर ही तो दासी भरे दिन और रुलाने वाली रातें बिताई हैं ! और इसी प्रकार र्ष के बाद वर्ष काटते-काटते शिशु से युवती बन गई हूँ।

तभी मैंने उस खुली खिड़की से देखा—एक दिशा से राक्षस की ाँति एक काला बादल उठा और समस्त आकाश में छा गया। लगा ैसे यह काला बादल ! मेरे अन्तस्थल का घना अन्धकार है। मेरी साँस ुटने लगी''''दम फूलने लगा''' आँखों के सामने नीली-पीली छोटी-छोटी ूँदें-सी उड़ने लगीं, और मैं खिड़की के सामने पड़ी उस मेज पर सिर टकती-सी गिर गई।

सारे दिन के काम-काज से हारी-थकी लगभग रात के ग्यारह बजे

आकर होटल की उस खिड़की के सामने बैठी-बैठी मैं मसूरी की पहाड़ियों पर फैले काले बादलों, आकाश के उन तारों, नक्षत्रों और चाँद को देखती रहती फिर जाने कितने मार्गों से अपने विगत जीवन की करुण कथाओं का मेल उनसे मिलाया करती थी।

जब से यहाँ आई हूँ उस खिड़की के सामने बैठना, फिर अतीत के घावों को धीरे-धीरे कुरेदना नियम-सा बन गया था। और जब उन घावों का लोहू आँसू बन कर आँखों से बरस पड़ता तो उस खिड़की के सामने पड़ी मेज़ पर सिर टिकाये निश्चल जड़-पाषाण प्रतिमा-सी घण्टों पड़ी रहती थी। कभी अस्फुट स्वरों में गुनगुना उठती थी बायरन का अधूरा गीत—

There comes a token like a scorpion's Sting,
Scarce seen. but with fresh biterness imbued;

उस रात किसी भी तरह नींद नहीं आ रही थी। सारे दिन पानी बरसता रहा और उस समय भी सारे आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादल क्रूर अट्टहास-सा कर रहे थे। उन बादलों में रह-रहकर बिजली चमक उठती थी। लग रहा था जैसे मेरी मालकिन की ही वह धवल दन्तावलि है जो अकारण ही बार-बार आक्रोश से मुझ पर पिस उठती है। एक बार तो लगा जैसे वे दांत मेरी गर्दन में आकर गढ़ गये हैं।

कभी लगता जैसे वह बुढ़िया धायमाँ चमकती आँखों से मुझे घूर रही हैं। मैं भय से चीख पड़ी। तभी एक स्वर सुनाई पड़ा—"What has happened ?" मैंने धीरे से 'Nothing' कहकर उस मदरासी रसोइये को शान्त कर दिया जो मेरे कमरे के पास ही बाहर छज्जे पर सोया करता था।

थोड़ी ही देर में पास के ड्राइंग रूम से घड़ी दो बार टन् टन् बोल कर शान्त हो गई। लगा जैसे 'टन् टन्' न होकर वह 'चुप चुप' की ध्वनि थी। जैसे मेरे एकाकी जीवन की आज वही एकमात्र संगिनी है, जो रात की निस्तब्धता को तोड़ती हुई मानो कह रही है "चुप, चुप ! आरती !

अब चुपचाप सो जा।" जी चाहा कि दीवाल पर टिकी उस घड़ी को लाऊँ और छाती से चिपका कर सारी रात पड़ी रहूँ। तभी किसी ने द्वार का कुंडा खटखटाया।

द्वार खोल दिया। सामने ही मालकिन खड़ी थी। काले बाल बिखेरे, जामुनी रंग का शाल ओढे खड़ी-खड़ी दाँत पीस रही थीं। दाँत पीसते-पीसते गरज पड़ीं—"आन्टी! यह क्या है तुम्हारा ढंग! वह कुक स्वामी कहता है कि रात-रात भर बैठी इस कोठरी में रोती हो, सिसकती हो और चीखती पुकारती हो, फिर क्या सँभालोगी मेरे मुन्ने को? मैंने तुम्हें गरीब, निराश्रित समझ कर नौकरी दे दी थी और एक तुम हो जो रात को भी मारे घर को सिर पर उठाये रखती हो। मैं साफ-साफ बतलाये देती हूँ। इस तरह नहीं चलेगा यहाँ! समझी!"

मैं चुपचाप सिर झुकाये खड़ी थी। मेरी पिंडलियाँ थर-थर काँप रही थी। उन्होंने तर्जनी से संकेत करते हुए कहा—"अच्छा, जाओ, सो जाओ, लेकिन भविष्य में ऐसी कोई भी बात सुनना पसन्द न करूँगी।"

मैंने हौले से 'जी!' कहा और अपनी कोठरी में आ गई। द्वार बन्द करके बिछौने पर धड़ाम से आ गिरी।

पानी ने जोर पकड़ लिया था। मेरी कोठरी की छत टीन की थी। तेज़ पानी की बूंद 'पड पड पड पड' जैसी ध्वनि कर रही थी। मुझे लग रहा था मानो कोई किसी के 'सड़ासड़' कोड़े मार रहा है।

मैं लेटी-लेटी सोचने लगी—यह ऐसा भय मेरे मन में क्यों आ समाया है? मैंने अपने एम० ए० में मनोविज्ञान का विषय लिया था सो चुपचाप लेटी-लेटी अपनी उस मनोदशा का विश्लेषण करने लगी। तभी घड़ी चार बार 'टन टन' बोल कर शान्त हो गई। मैंने करवट बदली और आकाश की ओर देखा। बादल फट गए थे। मैं खिड़की से झाँकते चाँद को देखने लगी।

उस चाँद को देखते-देखते सोचने लगी—आकाश में यह चाँद भी तो एकाकी है। कौन है इसका अपना? कितने उतार चढ़ाव आते हैं

इसके जीवन में ! फिर भी युग-युगों से अकेला इसी प्रकार चला जा रहा है। सोचने लगी—क्यों चला जा रहा है? कैसे चला जा रहा है? एकाकी होकर भी चल सकता है? और मैं धीरे-धीरे गुनगुना उठी टैगोर का एक गीत—

यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे तवे एकला चलो रे।
एकला चलो—रे।
यदि केउ कथा ना कय, ओरे, ओरे, ओ अभागा,
यदि सवाई थाके मुख फिराये, सवाई करे भय—
तवे परान खुले
ओ, तुई मुख फूटे तोर मनेर कथा एकला बोले रे।
यदि सवाई फिरे जाय, ओरे, ओरे, ओ अभागा,
यदि सघन पथे जावार काले केउ फिरे ना चाय—
तवे पथेर काँटा,
ओ, तुई रक्त भाखा चरन तले एकला दलो रे।
यदि आलो ना धरे, ओरे, ओरे, ओ अभागा,
यदि झातु वादले आँधार राते दुआर देय धरे—
तवे वज्रानले,
आपन बुकेर पाँजर ज्वालिये निये एकला जलो रे !

फिर ध्यान आया—इस चाँद के एकाकी जीवन को कितने आकर्षणों ने घेर रखा है ! तभी तो यह है वहाँ ! नहीं तो नक्षत्रों से टकरा-टकरा कर यह बिखर न जाता ! मेरे जीवन में कहाँ है वैसा आकर्षण ? किस आकर्षण के सहारे मैं जीवित रहूँ ? किसके लिए ? क्यों ? क्यों ?

तभी आकाश से नीचे खिसकते पीले चाँद में मैंने देखा जैसे मालकिन का वह अबोध बालक मुन्ना निरपराध आँखों से मुझे देख रहा है।

जैसे कह रहा है, "आन्टी ! यह कुक छुआमी मुझे माला कलता है ! अभी भी मालती है ! औल घाय माँ भी ! छव मुझे मालते हैं। वछ

आन्टी आप मुज को पिआल कलती हैं ! कलती हैं न ? मुज को छोल कल जाना मत ? जाना मत !"

मैंने आँखें मीच लीं। आँखों में भी वही मुन्ना का निरपराध चेहरा ! मैं बिछौने पर लेटी-लेटी सोचने लगी—कितनी बार मेरे गले में अपनी नन्हीं-नन्हीं बाहें डाल कर उसने कहा है, "आन्टी ! बछ आप ही मुझे पिआल कलती हैं। मुजे छोल कल जाना मत ! जाना मत !"

२

हाय रे इन्सान ! और तेरे मन के निगूढ़ रहस्य ! कितनी बार मैं अपने आप से पूछ चुकी हूँ—आखिर क्यों पड़ी है तू इस नर्क में ? छोड़ क्यों नहीं देती इस घर को ? इस काम को ! समाचार-पत्रों में नित्य ही 'गवर्नेस' के रिक्त स्थानों के लिये माँग छापी जाती है। तू और कहीं क्यों नहीं चली जाती ? क्यों नहीं जाती ?

सो इतना बड़ा सत्य आज अचानक ही समझ पाई हूँ कि वह मुन्ना ही है मेरा आकर्षण-केन्द्र ! जिसके चारों ओर नित्य अपमान और उपेक्षा की चोटें खा-खाकर भी चाँद की भाँति चक्कर काटे जा रही हूँ।

सोचने लगी—तो यही है नारी का नारीत्व ! मातृत्व की पुकार !! मेरे अबला जीवन का हाहाकार !!

पता नहीं कब कैसे उस मुन्ना के प्रति ऐसी ममता उमड़ी कि मैं किवाड़ खोल कर उसी के कमरे की ओर चल पड़ी।

रात के समय मुन्ना अपनी धाय माँ के साथ ही रहता था। मैं जब कमरेमें पहुँची तो देखा धाय माँ खाट के पास दरी पर लेटी-लेटी खुर्राटे भर रही है और मुन्ना चारपाई पर लेटा है।

कमरे में धुंधला प्रकाश था। उस धुंधले प्रकाश में भी उसके गालों पर सूखे आँसू स्पष्ट दिख रहे थे। सोचने लगी जाने क्यों रोया होगा ? जाने क्या चाह रहा होगा ? जब नहीं मिला होगा तब सिसक-सिसक कर

चुपचाप सो गया होगा ! जाने क्यों जी चाहा कि मुन्ना को छाती से चिपटा कर जी भर रो लूं। मन मे भरी वह ममता उमड़-उमड़ कर आँखो से बरस पड़ी। मैं साड़ी के छोर से आँखें पोंछती चुपचाप गिरती पड़ती-सी बाहर आ गई।

रात भर जागती रही थी, सो बिछौने पर लेटते ही नींद आ गई। ड्राइंग रूम की घड़ी छः बार टन् टन् करती झनझना उठी। तभी लगा जैसे मेरे गले में हाथ डाले छाती से चिपटा मुन्ना सो रहा है। मेरी आँख खुल गई। देखा सचमुच ही वह मुन्ना था।

उसकी वे भोली आँखें टकटकी लगाए मेरी ओर ही देख रही थीं। मैंने जोर से अपनी ओर खींचा।

वह अपनी नन्ही बाहों में और अधिक जोर भर कर मेरा गला पकड़ते हुए बोला—"आन्टी ! मैं नही छोऊँगा उछ कमले मे ! मैं तो तुम्हाले पाछ ही छोऊँगा।"

"वहाँ क्यो नहीं सोएगा ?"

"धाय माँ मालती हैं।"

"क्यों मालती हैं ?"

"बिछतल पर पेछाव निकल गई थी।"

"तो तुम बिस्तर पर पेशाब क्यो करते हो ?"

"मैंने थोले ही की थी। वह तो खलाब मुन्ना ने की थी।"

"अच्छा ! खराव मुन्ना ने की थी ?

"हाँ, मैं तो बहुत अच्छा ललका हूँ।" कहते-कहते अपने नन्हें-नन्हें पैर मेरी कमर में लपेटता-सा चिपक गया।

तब जीवन में पहली बार मैं समझ पाई मन के अन्तस्तल में दबी अपनी कामना ! मेरा रोम-रोम काँप उठा। मैंने आँखें मीच ली और उस शिशु-हृदय की धड़कन से सिहरती चुपचाप पड़ी रही।

मुन्ना मुझ से चिपटा लेटा था, तभी देखा वह धाय माँ सामने खड़ी है। अपनी चमकती आँखों से मुझे घूर रही थी। उसने दोनों होंठ सिकोड़े

और हवा के झोंके की भाँति चली गई। जाते-जाते जैसी तीखी दृष्टि से उसने मुझे देखा सो आज भी मुझे याद है।

जिस तीखी दृष्टि से उसने मुझे देखा था उसका रहस्य मैं समझ पाई रात के नौ बजे। मालिक और मालकिन ड्राइंग रूम में बैठे थे। पास ही कोई अतिथि बैठे थे। सिर झुकाए क्लान्त गम्भीर से। दाढ़ी बढ़ रही थी, मैं सोचने लगी—यह यहाँ कैसे? यह तो इस वर्ग के नहीं लगते। फिर सोचा, मुझे क्या? होंगे कोई!

मुन्ना खा पीकर सो गया था। मैं अपने कमरे से जरा-सा किवाड़ खोले उन अतिथि को देख रही थी। मुझे लगा जैसे उनका चेहरा बहुत कुछ मुन्ना की मुखाकृति से मिलता-जुलता-सा है।"

मालकिन बोली—"आया! आन्टी के पास वाले कमरे में एक बिस्तर लगा दे। और हाँ, देख आन्टी को तो बुला।"

उस स्वर में आक्रोश था। मैं काँपने-सी लगी। सोचा—ऐसे क्यों बुला रही हैं! क्या इन अतिथि के सामने ही मुझ से कुछ कहा सुना जाएगा?

उस वाय माँ ने ओठों पर व्यंग-सा बिखेरते, मेरी ओर घूरते हुए आकर कहा—"चलिए जी! छोटी बहूजी बुला रही हैं।"

मैं चुपचाप सिर झुकाए उन बहूजी के सामने जा खड़ी हुई। मैं नहीं जानती कि उन्होंने पहले कैसी आँखों से मुझे देखा होगा किन्तु कानों से जो सुना, उसे सुन कर वज्राहत-सी सन्न रह गई।

वे कह रही थीं—"आन्टी! मैं नहीं समझती थी कि इतनी शिक्षित होकर भी तुम चोरी कर सकती हो! उस दिन जिस बटुए में रखे रुपये चोरी हो गए थे वह बटुआ आज तुम्हारे तकिए के नीचे रखा पाया गया है। ऐसी चरित्रहीन गवर्नेस के पास मैं अपने बच्चे को नहीं रख सकती।"

वे कहे जा रही थीं और मुझे लग रहा था जैसे धरती काँप रही है। मेरे कानों में 'साँय-साँय' सा कुछ होने लगा। पैर टूटने-से लगे। मैं गिरती-पड़ती अपने कमरे में आ पड़ी।

तभी मुना वे एकाउन्टेन्ट को आज्ञा दे रही थीं—"मिस्टर मेहता ! आन्टी का आज तक का हिसाब चुकता कर दो।"

फिर उन छोटे बाबू का स्वर सुनाई पड़ा, "और देखो ! चोरी वाले पचास रुपये भी काट लेना। उनसे कह दो कि वे सुबह ही यहाँ से अपना सामान लेकर चली जायें।"

छोटी बहू बोली—"ऐसा मत करिये।" वह बोले—"नहीं जी, उसे पूरा दण्ड मिलना चाहिये।"

मि० मेहता ने मेरी कोठरी के द्वार पर खड़े होकर कहा—"आन्टी ! आफिस में आकर अपना हिसाब कर जाइये।"

मैंने रुँधे कण्ठ से आँसू पोंछते हुए कहा—"मुझे नहीं करना है हिसाब। छोटी बहूजी से कह दीजियें। मुझे कुछ नहीं चाहिये।" कहकर मैंने किवाड़ बन्द कर लिए और औंधा मुँह किये उस कोठरी के फर्श पर पड़ी धीरे-धीरे सिसकती रही।

मुझे लगा जैसे मुन्ना मेरे गले में हाथ डाले कह रहा है—"आन्टी ! आप मुझे पिआल कलती हैं न ! मुझे छोल कल कवी मत जाना। कवी मत जाना। अच्छा !"

मैं जोर-जोर से सिसकने लगी। सिसकियों को रोकने के लिए मैंने आँचल का छोर अपने मुँह में भर लिया, पर उद्वेग के ऐसे उफान को कौन रोक सका है आज तक ?

पास वाले कमरे में वे नवागन्तुक अतिथि जोर-जोर से चक्कर काट रहे थे। सोचने लगी—होगा कुछ, मुझे क्या ? मेरा कौन है इस इतनी बड़ी दुनिया में ? उनका चेहरा मुन्ना से मिलता-जुलता क्यों है ?

टीन की छत पर धीरे-धीरे 'छर-छर' की ध्वनि बढ़कर 'पड़-पड़' की ध्वनि बन चुकी थी। यह 'पड़-पड़' की लय बढ़ी जा रही थी। उसने लगा कि वर्षा हो रही है और बढ़ती ही जा रही है। कोठरी के उस फर्श पर बिना ओढ़े औंधे मुँह पड़े-पड़े मेरा सारा शरीर जकड़ गया था। मैं धीरे से उठी और बिस्तर पर जा पड़ी।

३

मैंने धीरे-धीरे कम्बल से सारा बदन ढक लिया और सोचने लगी—कल सुबह होगी। मुन्ना कल भी उठते ही मेरे पास आने के लिए अपने बिछौने से उठेगा। फिर चलकर मेरी कोठरी की ओर आयेगा और कोठरी में मुझे न पाकर रसोईघर में जायेगा। सारा घर छान डालेगा।

जब उसे पता लगेगा कि मैं उसे छोड़कर चली गई हूँ तब कैसे उसके होंठ हिल उठेंगे.......कैसे आँखों की कोरों से आँसू छलक पड़ेंगे.......मुझे लगा जैसे मेरा सारा शरीर काँप उठा है। मेरी साँस रुकने-सी लगी। दोनों हाथों से अपनी गर्दन दबाये दाँतों से होंठों को भींच कर अपने बिछौने पर छटपटाने लगी।

दबाये छोटी बहू की उस कोठी से मैं निकल आई। मुन्ना के वे फटे जूते कितने दिनों से मेरी कोठरी में पड़े थे।

सोचने लगी—क्या ये जूते इस कोठरी में इसीलिए इतने दिनों से पड़े थे कि आज मन मे मुन्ना के प्रति उमड़ती उस ममता और स्नेह को दबाने के लिए उसके इनस मृतिचिन्हों का ही सहारा लेना होगा।

छोटी बहू की वह कोठी एक ऊँची पहाड़ी पर थी। गर्मियों में प्राय: वे यही आकर ठहरती थीं। छोटे बाबू आठ-आठ, दस-दस दिन के लिए अपना काम-काज देखने दिल्ली चले जाते थे। सुना है कि वे ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट भी तो हैं। आज वे भी जाने वाले हैं सो मैं बिलकुल ही भूल गई थी।

वे दिल्ली जा रहे थे इसलिए सभी जल्दी जाग गये थे। और जब कोठरी में मुझे न पाया तो चीख-पुकार मचने लगी—"पकड़ो! पकड़ो!! चोरी करके भागी है। दौड़ो! दौड़ो!!"

सारी कोठी चीख-पुकार से भर गई थी। पता नही मुझे क्या सूझा कि मैं भी बच निकलने के लिए दौड़ पड़ी। दौड़ते-दौड़ते ठोकर खाकर गिर पड़ी, माथा और कुहनियाँ कंकड़-पत्थरों से छिल गईं। माथे से खून टपकने लगा। मैं जल्दी से उठी और हाथों से खून पोंछती-पोंछती भागने लगी।

उस मदरासी रसोइये का स्वर सुनाई पड़ा—Stop! Stop!!

मैं वही चुपचाप खड़ी हो गई और थोड़ी ही देर में कोठी के नौकर-चाकरों ने मुझे घेर लिया।

मुझे उन्हीं छोटी बहू और छोटे बाबू के सामने लाकर खड़ा किया गया। छोटी बहू कहे जा रही थी—"जाने कितने घरों से इसी प्रकार भागी होगी। जब इससे जाने के लिए कह दिया गया था तो इस तरह भागी क्यो?"

छोटे बाबू ने कहा—"बद्दिमाग है। देखो! देखो!! वह क्या छिपा

रही है ? मुझे तो लगता है जितनी भी छोटी-मोटी चीजें चोरी गई हैं वे सब इसी ने चुराई हैं। तलाशी लो। आया ! ओ आया !! चल इधर !"

आया आगे बढ़कर बोली—"जी छोटे बाबू !"

वे बोले—"इसकी तलाशी लो ! देखो वह क्या छिपा रही है ?"

जीवन में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि निर्बल गाय अपनी रक्षा के लिए शेर को भी आतंकित कर देती है और छोटी सी गौरय्या बड़ी चील को चोंच मार कर दूर भगा देती है।

इतना बड़ा अपमान मैं किसी भी प्रकार न सह सकी। मैंने मुन्ना के उन जूतों को साड़ी से निकालकर जमीन पर पटक दिया और बोली—"सम्भालिये ! यही है आपकी अपार सम्पत्ति, जिसे अपने शेष वेतन दो सौ रुपयों के बदले में लिए भागी जा रही थी और जिसके लिए आज आपने मेरा इतना बड़ा अपमान किया है। एक सत्य आपको और जताये जाती हूँ कि अपने वेतन के दो सौ रुपये छोड़कर उस नन्हें हृदय के स्मृति-चिह्न, उसके फटे जूते छाती से दबाकर जाने वाली चाहे और कुछ भले ही हो पर 'चोर' नहीं हो सकती। अब मैं जा रही हूँ। यदि और कोई दावा या शंका हो तो उसका भी समाधान कर लीजियेगा।" कहकर मैंने छोटी बहू की ओर देखा।

लगा जैसे किसी ने उनके समस्त मुख पर काली स्याही पोत दी हो। उनके होंठ फड़क रहे थे। लग रहा था जैसे वह पाषाण हृदया भी कहीं किसी ठौर पर पिघल उठी है।

वे रुँधे कण्ठ से बोलीं—"आ……न्टी ! आ……प……।" और फिर अपने अधूरे वाक्य को बिना पूरा किये ही वहाँ से चली गईं।

मैं धीरे से उन जूतों को उठाकर चुपचाप वहाँ से चल पड़ी। चलते-चलते मुड़कर मैंने देखा कि मुन्ना अब भी चारपाई पर अपने नन्हें हाथ गाल के नीचे दबाये सो रहा है।

लगा जैसे वह दोनों हाथ जोड़कर कह रहा है—आन्टी ! आप मुझे पिआल कलती हैं न ? मुझे छोल कल कबी मत जाना । कभी मत जाना अच्छा !

और मैं उसे छोड़कर चली आई !

रास्ते में देखा—वे अतिथि नीचे सड़क से ऊपर कोठी पर चढ़ रहे हैं। सोचने लगी—इतनी रात गये कहाँ थे ? क्यों गये थे?""गये होंगे?"" मेरा क्या ?""अच्छा हुआ जो इनके सामने कुछ नहीं हुआ !""होता भी तो मुझे क्या ?""मेरे कौन हैं ये ? किन्तु उनकी आँखों में कैसा अपनापन-सा है""अपरिचित होकर भी परिचित जैसे लग रहे हैं।""बड़ा हो कर मुन्ना भी ऐसा ही लगेगा !

इसी प्रकार अपने में डूबी मैं उस गीले रास्ते पर पैर सम्भालती नीचे सड़क की ओर उतर रही थी।

अंधेरा अब भी था । रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। अचानक ही वह रिमझिम तीव्र गति के साथ 'पड़-पड़', 'छर-छर' में बदल गई। पानी की वे बूँदें इतनी जोर से आ-आकर कनपटी पर चोट करने लगी कि जैसे कान के पर्दे तक फाड़ डालेंगी, और मैं जल्दी-जल्दी बढी जा रही थी।

सड़क के पास ही कोठी का फाटक था। फाटक के पास ही एक घना पेड़ था। पानी बहुत जोर पकड़ गया था। किसी भी प्रकार आँखें तक नहीं खोली जा रही थी। सामने जैसे सफेद धुंध-सी छा गई थी, सो मैं उसी घने पेड़ के नीचे खड़ी हो गई । तभी लगा जैसे चोट खाया हुआ, बिलबिलाता छटपटाता-सा कहीं नन्हा कण्ठ-स्वर चीख रहा है—आन्टी "! आन्टी""!! आन्टी !!!

मैंने अपने हाथों से कान बन्द कर लिए। तब लगा जैसे वह चीख मेरी हथेलियों को भेदकर कानों के पर्दों तक जा-जाकर टकरा रही है—आन्टी !"" आन्टी""!! आ""न्टी !!! आ " न्टी""आ ""।

४

धीरे-धीरे वह नन्हा चीखता कण्ठ शान्त हो गया। उसी समय विद्युत-प्रकाश से सारा आकाश आलोकित हो उठा और फिर इतनी जोर से 'कड़-कड़, कड़-कड़' की आवाज हुई कि मैं काँप गई। लगा जैसे कड़-कड़ा कर बिजली ऊपर ही आ गिरी है।

उसी प्रकाश में मैंने देखा कोई उस कोठी से नीचे उतर रहा है। थोड़ी ही देर में वह काली छाया कोठी के फाटक पर आकर खड़ी हो गई।

फिर बिजली चमकी........'कड़-कड़', 'कड़-कड़' शायद उस छाया ने मुझे पेड़ के नीचे खड़ी हुई को देख लिया था। वह छाया मेरे सामने आकर खड़ी हो गई, बोली—

"क्या आप अब भी लौट सकती हैं?"

"न हीं!" जाड़े से दाँत किटकिटाते मैंने कहा।

"किसी भी तरह नहीं?"

"न....हीं!"

"उन्हें भी बहुत दुख है!"

"हो....!" जाड़े से थरथराते मैंने कहा।

"वह बहुत रोया है। रोते-रोते टूट-सा गया है! जो अपमान आप का हुआ है उसे सुनकर मैं भी वहाँ जाने के लिए नहीं कहता, लेकिन यदि

हो सके तो उस बच्चे के लिए चली चलिये। इसी लिए सबने मुझे·······"

पता नहीं वे क्या-क्या कहे जा रहे थे, किन्तु मेरे कान में अब उनका एक शब्द भी न आ रहा था। मैं उड़कर पहुँच गई थी वहाँ, जहाँ वह नन्हा-सा हृदय मेरे लिए रो-रोकर टूट गया था!

कानों में गूँज उठा—"वह बहुत रोया है!····रोते-रोते टूट-सा गया है!" " वह बहुत रोया है···टूट···गया···है।"

मैं उस पेड़ के नीचे से निकलकर पागलों की भाँति कोठी के उस ऊँचे मार्ग पर गिरती पड़ती सी चली जा रही थी।

ऊपर जाकर देखा–सब लोग मेरी कोठरी के सामने खड़े हैं! कोठरी में छोटी बहू सिरहाने की ओर बैठी हैं और छोटे बाबू पास ही कुर्सी पर बैठे थे।

मैं थर-थर काँपती दाँत किटकिटाती-सी आगे बढ़ी। पानी से भीग कर साड़ी सारे अंगों से चिपक गई थी। पहिले सबके बीच ऐसी दशा में जाते लाज लगी, किन्तु पल मात्र ही में वह भाव पता नहीं कहाँ लुप्त-सा हो गया और मैं अपनी उस कोठरी में जा खड़ी हुई।

मुन्ना मेरा तकिया दबाये धीरे-धीरे सिसक रहा था। मुँह से निकली लार धाय माँ कपड़े से पोंछ-पोंछ कर साफ कर रही थी।

यह समझने मुझे देर नहीं लगी कि अधिक रोने से उसे उल्टी हो गई है। मेरे अन्दर आते ही सब इधर-उधर हट गये। छोटी बहू भी उठकर खड़ी हो गई। मुझे लगा जैसे उस कोठी की मालकिन 'छोटी बहू' वहाँ नहीं थी। वहाँ खड़ी थी 'मुन्ना की माँ'! मात्र माँ!! और वह माँ दाँतों से ओठों को दबाती उस निस्तब्धता को तोड़ती बोली—"इसे चुपा लीजिये अब!"

मैंने अपने गीले हाथ पास ही पड़ी चादर से पोंछ कर एक हाथ मुन्ना के सिर पर रक्खा। मुन्ना ने जैसे मेरे हाथ के उस स्पर्श को पहचान लिया। उसने धीरे से सिसकते-सिसकते करवट बदली···वे आँखें···जो रोते-रोते सूज गई थी····शायद मैं जीवन-भर न भूल सकूँगी। उन आँखों

को ! उस मुरझाए नन्हें चेहरे को !!

छोटी वहू ने वहाँ से सव को संकेत द्वारा हटा दिया। तव अपने गर्म जामुनी शाल से मुझे ढक-सा दिया।

मुन्ना इतना अशक्त हो गया था कि वह उठा नहीं ! उसने अपने नन्हें हाथ उठाए। उन दोनों हाथों को मैं अपने ठंडे गालों पर रख कर वार-वार दवाने लगी, थपथपाने लगी।

उन नन्हें हाथों की वे नन्हीं-नन्हीं अंगुलियाँ ! नन्हीं हथेलियों की वह उष्णता। वे सजल आंखें ! काँपते नन्हें ओंठ !! जैसे एक अमिट चित्र-सा वन कर मेरे मन में सदा के लिये अंकित हो गए हैं।

एक छोटी-सी घटना ने जैसे उस कोठी का सव कुछ वदल दिया। सोचने लगी कि वर्ड्सवर्थ के 'Child is the father of man' को लेकर मैं कितना हँसा करती थी। सो उस महान् कवि के उस महान् सत्य को मैं उस दिन समझ पाई जव उस नन्हें मुन्ना ने अपने माँ के दर्प को मिटा कर 'छोटी वहू' से 'माँ' वना दिया।

उस टीन की कोठरी से मेरा सामान हटा कर पास के एक सजे सजाए कमरे में रखवा दिया गया। लग रहा था जैसे एक ही दिन में मेरे प्रति सव का व्यवहार वदल गया है। मैं वदल गई हूँ ! सव कुछ वदल गया !! और वह जो कुछ वना था, वदला था उसका स्रष्टा था—वह नन्हा वालक ! मुन्ना !!

उस दिन जव सव खा-पीकर सो गए तो मैं भी अपने कमरे में आकर लेट गई। लेटे-लेटे लगा जैसे पिछली घटना के सारे दृश्य मेरी आँखों के सामने क्रम से चित्रित हो-होकर मिट रहे हैं। तभी किसी ने द्वार का कुंडा खटखटाया।

उठ कर धीरे से द्वार खोल दिया। मैंने कमरे का स्विच तर्जनी से दवाया। सामने वही अतिथि खड़े थे।

वोले—"मुझे दुःख है कि इस समय आपको कष्ट देना पड़ रहा है।"

"कहिए !" मैंने धीरे से कहा।

"अचानक हाथ से गिर कर कलम का निब टूट गया। कुछ आवश्यक लिखना था सो यदि हो सके तो अपना कलम·······।"

"अभी लाती हूँ।" कह कर मैं कोने में रखी मेज की ओर गई और अपना कलम उठा कर दे दिया।

"धन्यवाद !" कह कर वे तेजी से चले गए।

मैं आकर अपने कमरे मे लेट गई। मेरी खिड़की के सामने ही उनके कमरे की खिड़की थी किन्तु जब से वे आए हैं यह खिड़की कभी न खुली। पिछली रात मैंने अपनी कोठरी से उनके घूमने, चारपाई पर लेटने······· चारपाई की चरँ-चरँ सुनी थी।

सोचा—शायद नींद नहीं आ रही होगी ······ फिर········जूतों की खटपट और फिर कोठरी में से किसी की आवाज न आई थी।

५

बिन्दु

••

अनूप

सुबह अनूप बाबू को बाहर से आते हुए देखा था सो सोचने लगी—कहाँ से आये हैं ? नींद क्यों नहीं आई ? अब क्या लिखेंगे ? लिखें कुछ भी मुझे क्या ? कहाँ जाते हैं रात के समय ? कहाँ रहते हैं रात-रात भर ? मुन्ना के मुँह से मिलता जुलता मुँह क्यों है इनका ? इसी प्रकार सोचते-सोचते मैं लेटी रही।

दूसरे दिन रात के तीन बजे मेरी आँख खुल गई। पता नहीं क्यों मेरी आँखें अनूप बाबू की उसी खिड़की की ओर ही जा लगीं !

खिड़की अब भी बंद थी किन्तु प्रकाश हो रहा था। खिड़की के काँच पर एक छाया-चित्र-सा बन रहा था। उससे लगा वे अब भी कुछ लिखे जा रहे है। अनूप बाबू के उसी छाया चित्र को मैं लेटी लेटी देख रही थी।

घड़ी ने जब चार बार 'टन् टन्' बोल कर ब्रह्म मुहूर्त हो जाने की घोषणा की। तब उस छाया चित्र ने दोनों हाथ ऊँचे उठाये—लगा जैसे वे शरीर को तान कर फिर ढीला करके थकान-सी मिटा रहे हैं। तभी मैंने देखा—उनके कमरे का प्रकाश मिट गया है और साथ ही वह छाया चित्र भी ! फिर घना अन्धकार !!

इसी प्रकार मैंने पन्द्रह रातें खिड़की पर बनते-मिटते उन छाया चित्रों को देख-देखकर बिता दीं। पिछले दो दिन से उस छाया चित्र में एक

विशेष परिवर्तन हो गया था। कुछ क्रम बदल-सा गया था। जो हाथ लगभग तीन-चार बजे तक हाथ में कलम लिए दौड़ा करता था वह कभी-कभी आँखों पर जा टिकता था।

लगता था जैसे उस छाया चित्र की आँखों से बड़े-बड़े आँसू की बूंदें गिर रही हैं। छाया के वे आँसू कितने बड़े हो-होकर गिरते थे!

मेरी जिज्ञासा जाग उठी। लगता था जैसे प्रतिपल प्रतिक्षण वह छाया मेरा पीछा कर रही है। लगता था जैसे चारों ओर वही हाथ कुछ लिखता-सा दौड़ रहा है। फिर बड़े-बड़े आँसू की बूंदें.........अन्धकार निबिड़ अन्धकार!

पता नहीं क्यों उस रात मैं एक क्षण भी न सो सकी। उनके सम्बन्ध में कुछ जान लेने के लिए गुंजलक ढीली करती हुई सर्पिणी की भांति मेरी जिज्ञासा धीरे-धीरे फन उठाने लगी और फिर जीभ लपलपाकर फूत्कार-सी कर उठी। मेरी साँस जोर-जोर से आने जाने लगी। मेरा दम फूल रहा था। उसी समय घड़ी तीन बार 'टन् टन्' की ध्वनि से रात्रि की नीरवता को तोड़ती शान्त हो गई। तभी मैंने देखा—खिड़की पर पड़ने छाया चित्र का वह कलम दौड़ाता हाथ रुकने लगा। आँसू की वे बड़ी-बड़ी बूंदें झरने लगीं और वे दोनों हाथ आँखों से जा लगे। प्रकाश मिट गया। घुप्प अन्धकार! मात्र अन्धकार!!

लगा जैसे कहीं कोई सिसक रहा है। सिसक उसी कमरे की ओर से आ रही थी।

तभी मैंने सुना हल्की-सी सिसक रुंधी दबी चीत्कार बन गई। मैं उस रात किसी भी प्रकार अपने को न रोक सकी। धीरे से मैंने किवाड़ की कुंडी खोली और हौले-हौले दबे पैर उसी खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गई। मैं दाँतों से होंठ भींचे सुन रही थी—सिसकियां और दीर्घ निश्वासें!!

रोई मैं भी बहुत बार हूँ। मेरा तो सारा जीवन ही जैसे रोते-रोते बीता है; और भी जाने कितने लोगों को रोते देखा-सुना है किन्तु उन

तभी अनूप बाबू ने एक लम्बी सांस छोड़ते हुए कहा 'अभया !'

"ठीक तो कह रही हूँ !"

"क्या बच्चा हूँ !"

"शायद बच्चे से भी छोटे !"

"अभया !" कह कर वे चले गये।

मैं बैठी-बैठी सोचने लगी—छोटी बहू को 'अभया' कह कर सम्बोधन करने वाले यह कौन हैं ? क्यों यहां आये हैं ? क्या रहस्य है राम !

और मैं विचार में डूबी-सी गर्म चाय का गहरा घूंट पी गई। किसी प्रकार उस अति गर्म घूंट को निगल गई फिर मुंह फाड़े मुंह में ठण्डी हवा खींचने लगी किन्तु इस प्रकार की जली जीभ को ठंडी वायु से शांत करने के मेरे उस प्रयास को कोई भी देख न सका।

तभी छोटी बहू ने कहा—अच्छा आन्टी ! फिर सारी कोठी का भार आप ही पर है और अनूप बाबू का भी !" कह कर मुस्काने लगी। कितनी बेचैनी थी, उस मुस्कराहट में !

मैं 'जी' कहकर खड़ी हो गई।

हूजी और छोटे बाबू दिल्ली चले
र। इस बार छोटी बहू घर का
-भार मुझे ही सौंप गईं थीं किन्तु
चमकती आँखों वाली बुढ़िया के
रण उसे मैं निष्कंटक राज्य न समझ
ती थी।

उस दिन दोपहर को मैंने डायनिंग रूम में आने के लिये अनूप बाबू को कहलवाया पर वे आए नहीं। तब हार कर भोजन की थाली उन्हीं के कमरे में भिजवा दी।

मुन्ना ने बहुत उछल-कूद की थी सो थक कर लेट गया था और मैं भी भारी मन से अपने कमरे में जा कर लेट गई। पता नहीं कब मुझे नींद आ गई और जब जागी तो देखा संध्या हो चुकी है। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठी। खुले द्वार से देखा अनूप बाबू शायद घूमने जा रहे थे। मैं अपनी बिखरी लटें संभालती बाहर आई और बोली—"कितने बजे वापस आएँगे ?"

"आज नहीं आऊंगा।"

"क्यों ?

"पुस्तक समाप्त हो गई।"

"तो आप रात-रात-भर पुस्तक लिखा करते थे ?"

"जी हाँ !" कह कर उन्होंने पहली बार सिर उठा कर मुझे देखा। कुछ क्षणों तक हम दोनों एक-दूसरे को देखते रहे।

सोचती हूँ—इन आँखों की भी अपनी एक भाषा होती है जिसमें शब्द स्वर तो नहीं, पर भाव देखने के विशेष प्रकार हैं। और ऐसी वह आँखों की मूक भाषा अन्तरतल के निगूढ भाव को भी सहज ही में प्रकट करने की क्षमता रखती है। मुझे लगा जैसे हम दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया है। समझ लिया है कि हम दोनों एक वर्ग के हैं। एक ही प्रकार की दुःख-व्यथा है हम दोनों की। मैंने सकुचाते हुए कहा—"कहीं बहुत आवश्यक काम है? न जाने से काम न चलेगा?"

"मन बहुत थक गया है। आज······आज·····।" कहते-कहते उन्होंने सिर झुका लिया। वे किसी भी प्रकार फिर बोल न सके।

मैंने आग्रहपूर्वक कहा—"आज आपका मन ठीक नहीं है। आप बाहर न जाइए। न जाइए अनूप बाबू।"

आज सोच कर मुझे आश्चर्य होता है कि उस दिन मैं इस प्रकार का आग्रह कैसे कर सकी थी? इससे पूर्व मैंने किसी पुरुष से सिर उठा कर बात भी न की थी। वे कुछ देर मेरी ओर देखते रहे फिर बोले—"अच्छा नहीं जाऊँगा।" कह कर अपने कमरे की ओर लौट गए। मैं प्रायः एक ही बार स्नान करती थी किन्तु उस रोज पता नहीं क्यों? क्या आया मेरे मन में? दूसरी बार जाकर मैंने स्नान किया और अपनी सब से प्रिय जयपुरी धानी रंग की साड़ी पहन कर डायनिंग रूम में आ बैठी।

मुन्ना अभी नहीं जागा था। भोजन का समय हो गया था। मैंने धाय माँ से अतिथि महाशय को बुलाने के लिये कहा।

उसने लौट कर कहा—"अंदर से कोई बोल ही नहीं रहा है।"

मेरा मन आशंका से भर गया। मैं हड़बड़ाती-सी उधर गई और छाया-चित्र बनाने वाली उस खिड़की के पास कान लगा कर खड़ी हो गई।

हलक-हलकी सिसकियाँ सुनाई पड़ रही थी। मैं दबे पाँव लौट आई। और डायनिंग रूम की कुर्सी पर अनमनी-सी बैठ गई।

तभी मैंने देखा मेरी पीठ की ओर से कुछ अंधेरा-सा हुआ। मैंने मुड़ कर देखा पीछे अनूप बाबू खड़े थे। मैंने खड़े हो कर कहा—"आइए

बैठिए ! बैठिए ! बैठिए !!" पता नहीं क्यों मेरे मुंह से कई बार 'बैठिए ! बैठिए !!' निकल गया सो कुछ अप्रतिभ-सी होकर मैं उनके मुंह की ओर देखने लगी।

उनकी आंखें रोते-रोते सूज गई थीं। अधिक रोने से मुंह कुछ गुलाबी-सा हो गया था और आंखें कुछ अधिक साफ और संवेदना शील-सी लग रही थीं। उनका चेहरा देख कर कोई भी सहज ही में जान सकता था कि वे आंखें अभी बरस कर आई हैं।

बिजली के प्रकाश के सामने आते ही आंखें चौंधिया-सी जाती थीं। वे कुछ ऐसा प्रयत्न कर रहे थे कि उन आंखों को कोई भी देख न सके।

मैंने कहा—"आपको यहां असुविधा हो तो मैं भोजन आपके कमरे में ही भिजवा दूं ?"

"हां ! यह ठीक रहेगा।" कह कर वे खड़े हो गए। फिर बोले—"आपको अकेले ही खाना पड़ेगा। न हो तो रहने दीजिए मैं भी यहीं खा लूंगा।"

मैं कुछ हंसती-सी बोली—"क्या हम दोनों वहां नहीं खा सकते ?" सुन कर उनके चेहरे पर लाली-सी दौड़ गई।

बोले—"हां, हां, आइए !" कहते-कहते वे अपने कमरे की ओर चले गए। मैं भी रसोइये को दो थाली उस कमरे में भेजने के लिये कह कर उनके पीछे-पीछे ही चल पड़ी।

उन्होंने मेज पर इधर-उधर बिखरे कागज-पत्र उठा कर जल्दी से तकिए के नीचे रख दिए और कमरे में बिखरी चीजों को जल्दी-जल्दी ठीक-ठिकाने रखने लगे।

मैंने कहा—"यह काम आप लोगों का नहीं है अनूप बाबू ! लाइए मैं ठीक किये देती हूं।" कह कर मैं उन बिखरी चीजों को इधर-उधर ठीक-ठिकाने रखने लगी।

मैंने देखा एक फोटो उनकी मेज पर रखी थी। उसके सामने मुरझाया सुबह का एक गुलाब का फूल और छोटी-छोटी प्यालियों वाले कुछ नरगिस

थे फूल पड़े थे। मैं उस फोटो को देखते-देखते वहीं खड़ी रह गई—सुन्दर, अति सौम्य थी ! फोटो वाली वह आकृति !!

नौकर ने कहा—"आन्टी ! किधर रखूँ ?"

मैंने दूसरी ओर पड़ी एक मेज की ओर संकेत किया। वह मेज पर दोनों थालियाँ रख कर चला गया। मैंने कुर्सियाँ खींच लीं और मेज के दोनों ओर दो कुर्सियाँ रखती हुई बोली—"आइए !"

अनूप बाबू कुर्सी पर बैठने लगे। मैंने कहा—"उधर आपको चौंध न लगेगा ! आप इधर बैठ जाइए। उधर सामने बिजली का बल्ब दिखेगा। इधर पीठ पीछे रहेगा।"

वे चुपचाप बल्ब की ओर पीठ करके बैठ गए। मैं उनसे कितनी ही बातें पूछना चाहती थी किन्तु कुछ सूझ ही नहीं रहा था कि कहाँ से कैसे प्रारम्भ करूँ !

हम दोनों चुपचाप रोटियों के ग्रास तोड़ कर साग-दाल में लगा-लगा कर निगलते रहे किन्तु मन हम दोनों के कहीं दूर बहुत दूर थे।

मैंने अपना समस्त साहस बटोर कर कहा—"अनूप बाबू ! आप इतने दुखी क्यों रहते हैं ?" वे चुप रहे।" मैंने फिर धीरे से कहा—"अनूप बाबू !"

तब बिना मेरी ओर देखे कुछ निषेध-सा करते हुए अपना बाँया हाथ उठा कर हिलाया और मैं चुप हो गई। फिर कुछ देर बाद उन्होंने मेरी ओर देखा।

मैं सिर झुकाए ही अनुभव करने लगी कि वे मुझे देख रहे हैं। जब मैंने अपना सिर उठाया तो उन्होंने अपनी आँखें झुका लीं। फिर एक लम्बी उसाँस भर कर कहा—"आपके बारे में बहुत-सी बातें अमया ने मुझे बताई थीं। अपनी आँखों से भी इन पिछले दिनों में बहुत कुछ देखा है। सो यह तो मैं भी सोच रहा था कि जाने से पूर्व आप से कुछ कहूँगा-सुनूँगा अवश्य किन्तु अब......"

फिर थोड़ी देर चुप रह कर बोले—"अब सोचता हूँ कि मैं जल्दी

से जल्दी चला जाऊँ।"

"सो क्यों ?" स्वर में सन्देह-सा भरते हुए मैंने पूछा—

साथ ही सोचने लगी—तो यह छोटी बहूजी से बातें भी करते हैं ? कब करते हैं ? छोटी बहू ने मेरे बारे में क्या-क्या कहा होगा ? न जाने क्या-क्या ?

तभी वे बोले—"मेरा कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा कि जिसके प्रति भी मेरे मन में ममता जागी बस वही किसी न किसी प्रकार के संकट में पड़ जाता है।"

सुनकर मेरे सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। मैं किसी भी प्रकार उनकी ओर न देख सकी। तभी वे संकोच भरे स्वर में बोले—

"बुरा मान गई ?"

'नहीं' कहकर मैं चुप हो गई। मैंने बहुत रोकना चाहा पर आँखों में उमड़ते उन आँसुओं को मैं किसी भी प्रकार रोक न सकी। 'टप् टप्' करके वे झर उठे। मैं थाली को एक ओर सरका कर खड़ी हो गई और साड़ी के छोर से आँखें पोंछती कमरे से निकल आई।

निकलते-निकलते मैंने सुना—वे कह रहे थे, "क्षमा करना ! मेरा मन ठीक नहीं है।"

मैं हाथ-मुँह धोकर जब लौटी तो देखा कि उन्होंने थालियाँ और पानी के गिलास बाहर रखकर किवाड़ बन्द कर लिये हैं। कमरे के बाहर अन्धकार था।

मैं अनमनी-सी मुन्ना के कमरे में गई। वह अब भी सो रहा था, मैंने धाय माँ से कहा—"मुन्ना जब भी उठे, मुझे बुला लेना।" कहकर मैं अपने कमरे में आकर चुपचाप लेट गई और धीरे-धीरे अपने ही में डूब गई—

सोचने लगी—तो क्या इनके मन में भी मेरे लिये ममता जागी है ? ममता ! सो क्यों ? क्या देखा ऐसा मुझ में ? क्या है मुझ में ? और मेरे मुँह से निकल गया—"हाय राम ! अब ?"

विगत जीवन की एक-एक घटना मुझे रुला डालती है किन्तु आज की यह पीड़ा जैसे कुछ भिन्न प्रकार की-सी थी। मैं बार-बार अपने एक हाथ की अंगुलियाँ दूसरे हाथ की अंगुलियों में उलझा-उलझा कर तोड़ मरोड़ रही थी। तभी किसी ने कुंडा खटखटाया। मैंने उठकर किवाड़ खोल दिये। सामने धाय माँ खड़ी मुझे घूरती-सी कह रही थी—"मुन्ना जाग गया है।"

मैं मुन्ना के पास गई। मुन्ना ने सदा की भाँति अपने दोनों हाथ मेरे तप्त गालों पर रख दिये। वह अपनी उनींदी आँखों में बोला—"आन्टी! आपको बुखाल आ गया है?"

मैंने चुपचाप उठाकर उसे अपनी छाती से चिपका लिया। फिर मन ही मन कहने लगी—मुन्ना! यह तो मैं भी नहीं जानती कि तेरी आन्टी को क्या हो गया है। तुझे कैसे बताऊँ? क्या बताऊँ?

मुन्ना दिन के चार बजे ही सो गया था सो खिला-पिला कर उसे सुलाते-सुलाते रात के ग्यारह बज गये। जब उधर से लौटी तो देखा अनूप बाबू के कमरे में प्रकाश है।

मन चाहा कि उधर जाऊँ पर मेरा विवेक मुझे अपने कमरे की ओर ही खींच ले गया। कई बार मैं उधर की ओर मुड़ी पर किसी भी प्रकार उधर न जा सकी।

चार दिन बीत गये। मैं अनूप बाबू के कमरे ही में भोजन करती थी किन्तु उस घटना के बाद किसी ने भी कुछ पूछने का साहस न किया। उस दिन छोटी बहू का पत्र आया था। उसमें लिखा था कि वे अभी आठ दस दिन तक और दिल्ली ही रहेंगी।

उस दिन मसूरी के एक सिनेमाघर में 'टार्जन' की फिल्म दिखाई जा रही थी सो मुन्ना को दिखलाने ले जाना था। मैं जाने के लिये तय्यार हो रही थी तभी अनूप बाबू आकर बोले—

"मैं भी चल सकता हूँ?"

"चलिये!" कहकर मैं लजा-सी गई।

मुन्ना को बीच में बिठाकर हम दोनों चुपचाप बैठे ...
मुन्ना कभी-कभी फिल्म में किसी जानवर को देखकर कुछ पूछ
ता था। वे धीरे-धीरे उसे जिस भाषा और जिस ढंग से समझा देते
सो मुझे बहुत अच्छा लगा था।

फिल्म समाप्त होते-होते मुन्ना को नींद आ गई। सिनेमा के बाहर
ाय माँ खड़ी थी। मैंने मुन्ना को उसे दे दिया और मैं भी उसके पीछे-
ीछे चल दी।

तभी वे बोले—"सुनिये! इसे जाने दीजिये। हम लोग इधर कुलड़ी
से होते हुये घूमते-घूमते निकल चलें तो कैसा रहेगा?"

"अच्छा, चलिये!" कहकर मैंने धाय माँ को सीधे कोठी पर जाने
के लिये कहा और मैं उनके साथ-साथ कुलड़ी की ओर चल पड़ी।

मसूरी का कुहरा, धुन्ध भरी रात और टिमटिमाती वे बिजली की
बत्तियाँ सचमुच ही बड़ी सुन्दर लग रही थीं।

मैं सोचने लगी कितनी बार इसी सड़क से ऐसी ही ठंडी रात में
निकली हूँ किन्तु आज अनूप बाबू के साथ क्यों सब कुछ नया और
सुहावना-सा लग रहा है।

मन ही मन सोचने लगी—शायद प्राकृतिक सौन्दर्य हमारी मनो-
दशा का प्रतीक मात्र ही हुआ करता है। नहीं तो धुन्ध में टिमटिमाती ये
रोज साधारण दिखने वाली बत्तियाँ आज इतनी असाधारण-सी क्यों लग
रही हैं? तभी कालेरिज की दो पंक्तियाँ मन ही मन गुनगुना उठी—

O Lady ! We receive but what we give.
And in our life alone does nature live.

कुलड़ी से होते हुये हम लोग जा रहे थे तभी वे एक ओर संके...
करते हुये बोले—"आप कभी उधर गई हैं?"

"क्या है वहाँ" मैंने चलते-चलते कहा।

"वहाँ से मसूरी का एक नया रूप दिखाई पड़ता है। अभी ...
सकेंगी?"

"चलिये।"

"देर हो जायेगी।"

"हो जाने दीजिये।"

"अच्छा" कहकर वे उसी दिशा की ओर चल दिये। मैं सोचने लगी—क्यों जा रही हूँ वहाँ ? क्यों ?

रास्ते में Reviera होटल के बड़े-बड़े लाल अक्षर दिख रहे थे। जैसे आँखों में रक्त भर कर कह रहे हैं—अरे कहाँ जा रही है ? किसके साथ जा रही है उस एकान्त पहाड़ी पर ? तू जानती है यह कौन है ? कौन है यह तेरा ? —आरती रुक ! रुक !!

तभी मेरे पैर रुकने से लगे। वे आगे निकल गये थे। उन्होंने मुझे मुड़कर देखा। वे लौट आये और बोले—"क्यों ? क्या सोच रही हैं ?"

"कुछ नहीं।"

"थक गई हैं ?"

"थकी तो नहीं हूँ।"

"अच्छा लौट चलिये।"

मैं चुपचाप खड़ी रही। फिर पता नहीं क्यों मेरे पैर किसी भी प्रकार न लौटे। मैं आगे ही बढ़ने लगी और वे भी धीरे-धीरे मेरे साथ ही चलने लगे।

जब उस पहाड़ी की चोटी पर पहुँचे तो मेरा दम फूलने लगा। किन्तु वे स्वाभाविक अवस्था में साँस ले रहे थे जिससे लगा जैसे वे रोज ही यहाँ आया करते हैं।

सोचने लगी—क्यों आते हैं यहाँ ? कहा तो था—"यहाँ मसूरी का हम एक नया रूप देख पाते हैं।" और मैं नीचे मसूरी को देखने लगी। मसूरी से नीचे देहरादून जगमगाता-सा दिख रहा था।

मुझे लगा जैसे मैं अनूप बाबू के साथ भूलोक से उठकर किसी ग्रह, नक्षत्र में जा बैठी हूँ। लगा जैसे मैं नीचे बसने वाले उन संसार के सारे बन्धनों से, लोकाचारों से मुक्त हूँ ! मुक्त !! नितान्त निर्बन्ध !!!

तभी वे बोले—

"कैसा लग रहा है ?"

"कैसे बताऊँ ? अनूप बाबू !"

फिर बहुत देर तक हम दोनों चुपचाप वहीं बैठे रहे ।

"लगता है आप रोज आते हैं ?"

"हाँ"

"उस रात आप यहीं से लौट रहे थे ? उस वर्षा में आधी रात के समय यहाँ क्या देखने आये थे ?"

वे आकाश की ओर बदली में छिपते चन्द्रमा को देख रहे थे । उन्होंने सिर झुका लिया और चुपचाप हाथ से कंकरियों को उठा-उठाकर नीचे की ओर फेंकने लगे ।

मैंने कहा—"उस दिन आप सारी रात बाहर रहने के लिये कह रहे थे । सो क्या यहीं आकर सारी रात बिता देने की बात तय की थी ?"

'हाँ' कहकर वे फिर चुप रह गये । तभी मैंने ध्यान से उनकी ओर देखा । भर्राये स्वर में बोले—

"अब चलें, बहुत देर हो गई ।" कहकर वे उठ खड़े हुये । और मैं मन ही मन सोचने लगी—उस 'Reviera' होटल के अक्षरों को देखकर मैं भी क्या-क्या सोचने लगी थी । ऐसे पुरुष से भी क्या किसी को भय हो सकता है ? तभी वे कंठ को साफ करते हुये बोले—

"आरती !"

उनके कंठ से अपना नाम सुनकर मैं चौंक-सी पड़ी । बहुत अच्छ लगा था उनके मुँह से निकला हुआ अपना नाम । कैसे ढंग से कहा थ "आरती" सो आज भी मुझे याद है ।

सोचने लगी— कैसे जान लिया मेरा नाम ? तभी याद आया— पोस्टमैन दिल्ली वाला मेरा पत्र इन्हीं को दे गया था ।

मैंने स्वर में आग्रह-सा भरते हुए कहा—

"थोड़ी देर और ठहरिये अनूप बाबू !"

'अच्छा !' कहकर वे चुपचाप बैठ गये। मैंने धीरे से कहा—

"इस जगह से आपको इतना लगाव क्यों है ?"

वे चुप बैठे रहे। मैंने भी आगे कुछ पूछने का साहस न किया। तब धीरे से वे ही बोले—

"मैंने आपको यहाँ लाकर अच्छा नहीं किया।"

"क्यों ?"

"कोठी के नौकर-चाकर हम लोगों के बारे जाने क्या-क्या सोच रहे होंगे ?"

"सोचने दीजिये। सबके अपने-अपने दृष्टिकोण हैं।"

"आपको मेरे साथ आते भय नहीं लगा ?"

"लगा था।"

"फिर क्यों आईं ?"

"इसीलिये कि किसी भी प्रकार लौट न सकी।" कहकर मैं हँस पड़ी और मेरे साथ वे भी हँस पड़े। हँसते-हँसते पास ही पड़े एक पत्थर को खींचकर और उस पर सिर टेकते हुए उन्हीं कंकड़ों पत्थरों पर वे लेट गये। फिर आकाश में टिमटिमाते उन तारों को देखते-देखते बोले—

"आरती ! कुछ गा सकोगी ?"

तब बोले—"सुना है बंगाल में सभी गा लेते हैं।"

"..........।" मैं चुप रही।

"कुछ सुना सकेंगी ?"

मैंने धीरे से कहा—"क्या करेंगे गीत सुन कर ?"

बोले—"गीत सुन कर लगता है जैसे कुछ खाली पन भर-सा जाता है।" कुछ देर चुप रह कर बोले—

"पता नहीं क्यों गीत मुझे सहारा-सा देते हैं।"

और मैं गा उठा थी—

कहते हैं तारे गाते हैं—
सन्नाटा वसुधा पर छाया।

नभ में हमने कान लगाया ॥
फिर भी अगणित कंठों का—
यह राग नहीं सुन पाते हैं। कहते हैं.......
ऊपर देव तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन रोदन,
राग सदा ऊपर को उठता
आंसू नीचे झर जाते हैं। कहते हैं.......

मैंने सारा गीत आकाश के उन जगमगाते तारों को देखते-देखते ही गाया था। गीत समाप्त करके अनूप बाबू की ओर मुंह फेरा। चन्द्रमा का प्रकाश सीधा उनके मुंह पर पड़ रहा था। मैंने देखा उनकी आंखें बन्द हैं और निर्जीव-से उस पत्थर पर सिर टिकाये पड़े हैं।

तभी वे भर्राये कंठ से बोले—"आरती! कोई बंगला गीत सुना सकोगी?" सुन कर कुछ देर मैं चुप बैठी रही फिर उनकी ओर देखती-देखती गाने लगी—

भालो बेसे सीख निभृत यतने
आमार नामटी लिखियो—तोमार
मनेर मन्दिरे।
*आमार पराणे जे गान वाजिछे
ताहार तालठी सिखियो—तोमार
चरण—मंजिरे

गाते-गाते मेरा गला भर आया। मैं किसी भी प्रकार आगे न गा सकी। फिर कुछ देर चुप रह कर गीले स्वर से मैंने कहा—अनूप बाबू!"

"................."

---

*(हे सखि! प्यार करके, एकान्त में यत्नपूर्वक अपने मन के मन्दिर में मेरा नाम लिख लेना। मेरे प्राणों में आज जो संगीत वज रहा है उसकी ताल अपने पैरों में बजने वाले नूपुरों से सीख लेना।)

"सुनिये !"

"..................."

"अनूप बाबू !"

"..................."

तब मैं भी चुप होकर अपने ही में डूब गई। सोचने लगी—चुप क्यों हो गये ? या किसी की याद आ गई ?........पता नहीं मेरा गाना कैसा लगा होगा ?..... ....छोटी बहू को 'अभया' क्यों कहते हैं ? बचपन में साथ रहे होंगे ? पढ़ाया होगा ! नहीं तो 'अभया' क्यों कहते ?

हाँ, याद आया.........अनूप बाबू को देखकर पहिले ही पहिले दिन उनका समस्त मुँह काला पड़ गया था। जब से अनूप बाबू आये हैं वे कुछ बदल-सी गई हैं। पहिले की तरह बात-बात पर खीभतीं भी नहीं हैं। डूबी-सी रहती हैं। अनूप बाबू के आने पर क्या उन्होंने छोटे बाबू को दिल्ली किसी उद्देश्य से ही नहीं जाने दिया था ? क्या इसीलिये वे छोटे बाबू के साथ ही दिल्ली चली गईं ? क्या है यह सब ! क्या—? क्या—?

और मैं पूछ बैठी—

"अनूप बाबू !"

बोले—"कहिये !" उनका कंठ रुँधा-सा था।

"एक बात पूछूँ ?"

"पूछिये।"

आप छोटी बहू को 'अभया' क्यों कहते हैं ?

"वह मुझसे छोटी जो है।"

"छोटी है तो क्या हुआ ?"

"सभी छोटे-बड़े तो उन्हें 'छोटी बहू' कहते हैं।"

वह चुप रहे फिर चन्द्रमा की ओर देखते-देखते बोले—"तो लगता है आप हैं समझदार।"

मैं मुस्कराती-सी बोली—

शायद पहिली बार ही ऐसा सुन रही हूँ। लेकिन मेरी बात का
दीजिये।"
"न दूँ तो ?"
"तो·········तो·········।" फिर मैं कुछ भी न बोल सकी।
मैं चुप रही।
तब वे उठकर बैठ गये और कुहनी को पत्थर पर टेककर मेरी
ओर देखते हुए बोले—
"आरती ! मैं कल चला जाऊँगा !"
"कल ?" और जैसे धक्-सा हो गया।
बोले—"हाँ !"
"बिना उनसे मिले !"
"हाँ",
"क्यों ?" कहते-कहते मेरा कण्ठ रुक-सा गया।
"मैं जानता हूँ कि जब तक मैं यहाँ हूँ वह नहीं आयेंगीं।"
"सो क्यों ?" आश्चर्य से मैंने पूछा।
बोले—"आरती !"
"जी !"
"पता नहीं क्यों तुम पर मुझे विश्वास हो गया है।"
"मुझ पर·········विश्वास·········।" कहते-कहते मेरी आँखें डबडब
आईं। तभी उन्होंने अपने काले ओवर कोट की जेब से एक मोटी का
निकाली और मेरे सामने सरकाते हुए बोले—"लीजिये ! आपकी 'क
का जवाब इसमें मिल जायेगा।" यही सब पिछले दिनों मैंने लिखा है
कहकर वे खड़े हो गये !
मैं भी साड़ी सम्भालती-सी उस कापी को उठाकर खड़ी हो
सोचने लगी कब कोठी पर पहुँचूँ और कब इस कापी का शब्द-श
डालूँ, कब ? कब ?
वे कुछ भराये कण्ठ से बोले—

"आरती !"

"जी !"

"शायद अब यहाँ कभी न लौट सकूँगा।"

"ऐसा क्यों कहते हैं अनूप बाबू।"

"मुझे······ लग·······रहा···· ···है।" रुकते-रुकते उन्होंने कहा था।

"अच्छा थोड़ा और बैठ लीजिये।" कहकर मैं फिर वहीं बैठ गई।

वे भी 'अच्छा !' कहकर उसी पत्थर पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद हम दोनों चुप रहे तब मैंने धीरे-से पूछा—

"अनूप बाबू !"

"कहिये !"

"कोई किसी पर विश्वास कैसे कर लेता है ?"

"निकटता का अनुभव करके ही वैसा हो पाता है।"

"सो क्यों होता है ऐसा ?'

"क्यों" मस्तिष्क से उठता है और यह बात हृदय से समझने की है।

"तब मैं करूँ ?'

'क्यों !'

"सुना है हृदय की बात हृदय ही समझ पाता है !"

"तो हृदय से समझ लीजिये !"

"वही तो नहीं है !"

हँसते-से बोले—"वह है या नहीं सो तो मैंने उस दिन ही समझ लिया था, जब मुन्ना के फटे जूते चुराकर भागी थी !" कहकर वे खिल-खिला पड़े और हँसते-हँसते धीरे-धीरे चुप हो गये—

मैंने पूछा—'क्या हुआ ?"

"·· ··।'

'अनूप बाबू !"

"·······।"

'सुनिये ! क्या हुआ है आपको ?"

"छु——छ……न——हीं।" रुकते-से बोले।

…ने आग्रहपूर्वक पूछा—"आप हँसते-हँसते इस तरह गम्भीर क्यों …थे ?"

…बोले—"मैं कल्पना भी न कर सकता था कि मनुष्य इतना बदल …ता है। मनोवैज्ञानिक मनुष्य को समझ लेने का अभिमान करते हैं। …समझता हूँ वह उनका दम्भ है!

एक दिन जो मुझ में समा-सी गई थी। मैं जब उसको ही नहीं …मझ पाया तो वह मनोविज्ञानी मात्र बुद्धि और तर्क के सहारे दूसरे को कैसे समझ सकता है ?"

मैंने पूछा—"अनूप बाबू! क्या कभी ऐसा नहीं होता कि जिसे हम 'दूसरा' कहते हैं वह भी ऐसा लगे जैसे उसी के शरीर का अंग मात्र है!"

वे कुछ आश्चर्य से बोले—"आरती!"

"जी!"

"तुम यह जानती हो? कैसे जानती हो?"

'उन्होंने पहली बार मुझ से 'तुम' कहा था। मुझे उनके मुँह से निकला 'तुम' बहुत अच्छा लगा था।" मैं सिहरती-सी बोली—

"किसी किताब में पढ़ा था।"

तब धीरे-से बोले 'तभी' और चुप हो गये।

मैं बोली—"आपको इतना आश्चर्य क्यों हुआ?"

बोले—"जिसकी अनुभूति मुझे बचपन में ही हुई थी और ज्ञा… इतने वर्षों बाद हुआ सो तुम इतनी छोटी उम्र में वैसी बात कैसे … सकी, यही सोच कर कुछ अचरज-सा हुआ था।"

मैं बोली, "यह बात तो साधना पर निर्भर करती है। जो … ध्रुव ने बचपन में ही प्राप्त कर ली थी वही बहुत से जीवन भर … पटक कर भी प्राप्तन हीं कर पाते! सिद्धि का आधार तो तीव्रत… निष्ठा में है! आप उसे वर्षों में क्यों नाप रहे हैं?" कहकर मैं धी… हँसने लगी।

"यह भी किसी पुस्तक ही में पढ़ा होगा या सचमुच आजकल ऐसी कोई साधना कर रही हो ?" कहकर वे मुस्काने लगे। इस तरह मुस्काते समय उनके ओंठ पतले हो जाते थे और आँखें खिंच-सी जाती थीं। उन की वह मुद्रा मुझे बहुत ही अच्छी लगती थी। सोचने लगी—वे कौन होंगी जो इनमें कभी समा गई थीं ? तभी वे बोले—

"आरती !"

"जी !"

"मैं नहीं जानता था कि तुम इतना अच्छा गा सकती हो !"

"मैं और अच्छा गाती हूँ। यह भी पहली ही बार सुन रही हूँ।"

"सच आरती ! बहुत अच्छा गाती हो !"

"अच्छा छोड़िये ! पहले आप मेरी बात का जवाब दीजिये।"

"किस बात का ?"

"वही कि 'अपने' और 'दूसरे' का भेद क्या कभी मिट सकता है ?"

"हाँ, मिट सकता है।"

"आपके जीवन में कभी ऐसा हुआ है ?"

"एक बार नहीं आरती, कई बार हुआ है। किन्तु जब वह "अभेद की अवस्था मिटती है तब···तब आरती ! तब मन मर जाता है। वह टूट जाता है। सब कुछ मिट जाता है। मानव मर-सा जाता।'

"क्या जीवन में ऐसा अभेद कई बार भी हो सकता है ?"

"हाँ, कई बार भी ! अनेकों बार !!"

"पहिली बार जब हुआ तब आपकी उम्र क्या थी ?"

"तब मैं सोलह वर्ष का रहा हूँगा।"

"कैसे हुआ था, सुना सकते हैं ?"

"अभी !"

"हाँ अनूप बाबू !"

'अच्छा तो सुनिये' कहकर अनूप बाबू ने पहिले चन्द्रमा की ओर देखा, फिर सुनाने लगे—

तब मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था। छुट्टियों में गाँव आया था। ज्येष्ठ
की तपन में तपता हुआ जब घर पहुँचा तो देखा छप्पर में माँ सो
थीं और पास ही ज़मीन पर दरी बिछाये और भी कोई सो रही
। मुंह पर खजूर के पत्तों का पंखा रखा था।

मैं पास ही खड़ी चारपाई को बिछा कर बैठने लगा तभी मैंने
खा वह पंखा मुँह पर से हट गया है। वे मुझ से उम्र में बड़ी थीं
लेकिन उस दिन जीवन में प्रथम बार मेरे समक्ष यह सत्य प्रकट हुआ था
कि कुछ चेहरे इतने सुन्दर भी होते हैं जिन्हें देखते ही मन उनकी ओर
बरबस खिंच जाता है।

मैंने धीरे से कहा—"सो ऐसा क्या था उस चेहरे पर ?"

बोले—"छोटी ठोड़ी पर हँसते-से ओंठ थे। आँखें अधिक बड़ी न
थी, पर उस चेहरे में वे जैसी थीं वैसी बहुत सुन्दर लगती थीं। रंग
उजला था और बाल अति काले थे। वे निश्चिन्त-सी सो रही थीं सो
लाल किनारे की वह साड़ी उनके कंधों से एक ओर हट गई थी। माथे
पर चंदन का सफेद टीका लग रहा था। बिखरे काले बालों के बीच वह
सौम्य सुन्दर उजला मुंह, मैं कभी भी नहीं भूल पाता।

तभी वे हड़बड़ाती-सी उठ बैठीं। साड़ी सँभालती बोलीं—"भाभी !
ओ भाभी ! अनूप आ गये।"

सुनकर मैं समझ गया था कि मेरे आने का पत्र घर पहुँच गया है।

मैंने बीच ही में पूछा—

"वे आपके गाँव में नहीं रहती थीं ? रिश्ते में क्या लगती थीं ?"

"वे मेरी बुआ लगती थीं ? गाँव से बीस मील दूर एक गाँव में
रहती थीं। मेरा यज्ञोपवीत होने वाला था सो उसी सम्बन्ध में वे आई थीं।

हाँ, तो मेरी माँ जग गईं। मैंने उठकर उनके चरणों पर माथा टेक
दिया। वे आशीर्वाद देती बोलीं—"इनके पैर छू लिये ?"

वे धीरे से उठकर कमरे में चली गईं। जब लौटीं तो एक हाथ मे
पानी भरा गिलास था और दूसरे हाथ में तश्तरी थी जिसमें दो छोटे पे
और एक चौकोर बर्फी का टुकड़ा रखा था।

७

अनूप • • बुआ

आकाश में बिखरे घन-खण्ड चाँद को बार-बार ढक लेते थे। सो आकाश की ओर मुँह उठाये अनूप बाबू ने कहा—

"आरती !"

"जी !"

"और पहिली बार किसी के सामने खाने में मुझे संकोच-सा लगा था। मैं बहुत सँभल-सँभल कर खा रहा था। खा चुकने पर हाथ धोये। उनके दिये तौलिये से हाथ पोंछकर बाहर जाने लगा।

तभी माँ ने ओठों ही ओठों में मुस्कराते कहा—"क्यों रे अनूप ! लगता है अब तो तू बहुत समझदार हो गया है !"

मैंने कहा—"क्यों माँ !"

बोलीं—"इस तरह आज तक तूने कभी मिठाई खाई थी ? अब तक तश्तरी एक ओर फेंकता और हाथ में लेता मिठाई, फिर दूसरे हाथ से सारी मिठाई मुँह में भर कर निगल जाता। तौलिये से आज तक तूने कभी हाथ पोंछे हैं ?"

तभी वे हमारी बुआ जी एक हाथ से मुँह दबाये हँसती-सी बोलीं—"फिर किससे पोंछते थे मामी ?"

माँ अपनी साड़ी का छोर हाथ में लेकर बोलीं—"इससे" कहकर माँ खिलखिला पड़ीं। मैं लाज के मारे गड़-सा गया और अपनी उन अपरिचिता बुआ की ओर देखता हुआ लम्बे-लम्बे डग बढ़ाये बाहर चला

गया। हंसी के मारे उनका मुंह लाल हो गया था।

मेरा गांव गंगा जी के किनारे है सो उन दिनों तरबूज और खरबूजों की फसल थी। एक नाड़ का खरबूजा बहुत स्वादिष्ट होता था। उसी नाड़ से पका खरबूजा तोड़कर लाया और उन्हें एकान्त में पाकर कहा—"बुआ जी ! इस खरबूजे को आप खाना। अकेले खाना !! अच्छा !!!"

सुनकर वे हँस दी थीं। बोलीं कुछ भी नहीं। मैं चाहता था कि वे कुछ कहतीं। जब उन्होंने कुछ भी नहीं कहा तो लजाता-सा, उदास मैं घर से बाहर बैठक में आकर लेट गया फिर थोड़ी देर बाद जैसे ही घर में घुसा तो देखा—मेरी वे बुआ जी खरबूजे को चाकू से काट रही थीं। मैं जाकर चुपचाप उसी खाट के एक किनारे पर बैठ गया।

आधा खरबूजा काटकर उन्होंने मेरी ओर सरका दिया और चौथाई से अधिक माँ को देकर बोलीं— "भाभी ! यह शन्तो को दे देना।"

शन्तो मेरी छोटी बहिन थी। और मुझे लगा जैसे मेरा सारा शरीर जलने लगा है। मेरी आँखों में आँसू उमड़ आये। मैं अपने हिस्से का वह आधा खरबूजा जमीन पर पटक कर भाग आया। माँ बुलाये जा रही थीं—

"अनूप ! अनूप !! क्या हुआ सुन तो बेटा !"

उस दिन मैं बैठक के किवाड़ बन्द करके रूठा पड़ा रहा था। फिर सबने मनाया था, पिता जी ने डांटा डपटा था किन्तु मैंने दोपहर को भोजन नहीं किया। फिर तीसरा पहर हुआ। साँझ हुई और मैं गंगा के किनारे अपने खेतों की ओर विक्षिप्त-सा दौड़ा गया।

साझेदार के लाख रोकने पर भी मैंने खरबूजे के उस नाड़ को खींच कर तोड़ डाला। उसमें लगे खरबूजों को जमीन पर पटक-पटक कर पैरों से रौंद डाला था।

घर में खेती करने वाला कोई था नहीं सो अपने गाँव के एक किसान को बँटाई पर सारे खेत उठा दिये थे। वही हिस्सेदार दौड़ा-दौड़ा घर गया। जब लौटा तो पिताजी उसके साथ थे। पिताजी का मुंह कैसा हो

रहा था सो साँझ के उस धुंधले प्रकाश में मैं किसी भी प्रकार न देख सका किन्तु कितने वेग से उन्होंने मेरे मुंह पर थप्पड़ मारे थे, सो आज भी मुझे याद है। पहिला थप्पड़ लगते ही मेरी आँखों के सामने बिजली-सी कौंध गई थी।

उस रात सारे गाँव की पशुशालाओं, कुँओं, तालावों, पोखरियों, की तलाशी ली गई थी। गंगाजी के किनारे "अनूप! अनूप!!" की आवाजें लगाई गई थी और जब उस मंदिर पर खड़े होकर गाँव वालो के कई कंठ मिल कर उच्च स्वर में पुकार उठे थे—"अनूप हो ऽऽऽ! अनूप हो ऽऽऽ!!" तब मुझे लगा था जैसे मेरे जलते शरीर को कुछ ठंडक-सी मिल रही है। अन्त में मेरी खोज की—उन्हीं बुआजी ने।

उन्होंने मंदिर के किवाड़ खोले। लालटेन उनके हाथ में थी। वे थोड़ी देर खड़ी रहीं फिर धीरे से आगे बढ़ीं—उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखा और धीरे-धीरे बालों में अंगुलियाँ उलझानेलगी।

धीरे से बोलीं—"अनूप! अनूप!!" और मैं सोया-सा लेटा रहा। तब उन्होंने लालटेन एक ओर रख कर अपने हाथों से मेरे दोनों हाथों को शिवजी की मूर्ति से हटा कर मुझे अपनी ओर खींच लिया। उनकी नासापुटों से निकली तप्त साँस मेरे गालों को बार-बार छूने लगी।

सिहरन की पहली अनुभूति जो जीवन में पहली बार आती है, कभी भी नहीं भुलाई जा सकती। सो मुझे भी आज तक याद है कि कैसे मेरा रोम-रोम काँप उठा था उनके उन हाथों और श्वासों के तप्त स्पर्श से! छूने मात्र से!!

मैं काँपता-सा सीधा बैठ गया। लाख प्रयत्न करने पर भी मैं उनकी ओर न देख सका था। तब उन्होंने कहा—"अनूप! नहीं जानती थी कि तुम ऐसे हो? इतना भी कोई बुरा मानता है! घर में अब तक किसी ने भोजन तक नहीं किया है! चलो! उठो!!"

मैं चुपचाप खड़ा हो गया। वे लालटेन लेकर आगे-आगे चल दीं और सिर झुकाए मैं पीछे-पीछे चलने लगा।

मैंने कहा—"अनूप बाबू ! वे आपसे उम्र में कितनी बड़ी थीं ?"

बोले—"दो तीन वर्ष बड़ी होंगी। उनकी बचपन में ही शादी हो गई थी और जब वे ६ वर्ष की थीं तभी घर वालों ने उनके हाथों की चूड़ियां फोड़ डाली थीं। उन्हें "विधवा" घोषित कर दिया गया था।

हां, तो दूसरे दिन जब मैं घर में घुसा तो देखा घर की कच्ची दीवाल में बड़ी-बड़ी कीलें ठोंक कर एक लकड़ी का तख्ता टिकाया गया है और उस पर अखबार बिछा कर मेरी किताबें सजा दी गई हैं। मेरे कपड़े करीने से खूंटियों पर टांग दिये गए हैं। नहाने का कुर्ता और धोती एक ओर रखी थी।

मैंने अपनी उन बुआजी की ओर देखा तो लगा जैसे वह कल वाला चेहरा न होकर वह कोई दूसरा ही चेहरा है जिस पर एक गहरी उदासी-सी छा गई है। वे उदास सजल आँखें कितनी अच्छी लग रही थीं।

घर में तब कोई भी न था। माँ नहाने चली गई थीं। चूल्हे पर बटलोई में दाल का पानी उबल रहा था। उफन-उफन कर बाहर निकल उठता था और आग बुझने-सी लगती थी। आग फिर तेजी पकड़ती थी और दाल का वह पानी फिर उबलने लगता था।

खड़ा-खड़ा मैं उसी ओर देख रहा था। मुझे लगा जैसे मेरे अन्दर भी कहीं कुछ इसी प्रकार उफन रहा है।

उन बुआजी ने रुंधे कंठ से कहा—"अनूप ! यहां आओ। यहां बैठ जाओ।" कह कर मेरे सामने लकड़ी की चौकी सरका दी। मैं चुपचाप उस पर बैठ गया। मुझे कुछ देर डबडबाई आंखों से वे देखती रहीं फिर कंठ को साफ करती-सी बोलीं—

"अनूप ! मैं कल चली जाऊँगी कभी-कभी छुट्टियों में आया करना।"

मैं 'अच्छा !' कह कर चुप हो गया।

"तुम कल इतने दुखी क्यों हो गए थे ?"

"तो आपने मेरा दिया खरबूजा क्यों नहीं खाया था ?"

"तब मैं यह नहीं जानती थी।"

"क्या नहीं जानती थी ?"

"कि तुम इतना बुरा मानोगे !"

सच आरती ! अब मैं भी सोचता हूँ कि उस दिन मुझे इतना बुरा क्यों लगा था ?

कुछ देर चुप रह कर वे बोले—"आरती !"

मैं 'जी !' कह कर चुप हो गई।

तब अनूप बाबू ने धीरे से कहा—"अब मैं सोचता हूँ कि वे सोलह और अठारह वर्ष के बुआ भतीजे कैसे समझ पाते कि कभी-कभी, किसी को, किसी की बात इतनी बुरी क्यों लगती है ?"

"सो तो मैं भी नहीं जानती अनूप बाबू !"

"अभी जान भी कैसे सकोगी ?"

"क्यों ?"

"छोटी जो हो।"

मैं बोली—"पच्चीसवें वर्ष में पैर रख रही हूँ सो कब तक मैं छोटेपन की कक्षा में रखी जाऊँगी ?"

बोले—"कुछ लोग उम्र से बड़े होकर भी मानसिक दृष्टि से शिशु ही रहा करते हैं।"

"मुझे इतना नासमझ समझते हैं आप ?"

"नासमझ तो नहीं समझता किन्तु ·····।"

"किन्तु क्या ?"

"कैसे समझाऊँ आपको ?"

"अच्छा रहने दीजिये अनूप बाबू ! यह बताइये किसी की तनिक-सी भी उपेक्षा असह्य क्यों हो उठती है ?"

"जब कोई किसी को मन ही मन अपना लेता है तब, आरती ! तभी !"

'हूँ' कह कर मैंने अपना सिर झुका लिया।

फिर वे बोले—"उस दिन मेरा यज्ञोपवीत हुआ। सिर घोट कर मुझे

ह्मचारी बनाया गया। काशी जाकर पढ़ने का नाटक हुआ। लेक...
रण पादुकाएँ पहनाई गईं। यज्ञोपवीत के नियम उपनियम समझाए गए;
किन्तु मेरा मन उस यज्ञोपवीत के विधि-विधान में नहीं लग रहा था।

मैं सोच रहा था—किसी भी प्रकार इससे छुट्टी पाकर बुआजी से बातें
करूँ। उस दिन उन्होंने एक सफेद साड़ी और सफेद ही ब्लाऊज पहना
था। वे काले लंबे बाल कंधों पर बिखरे धीरे-धीरे इधर-उधर उड़ रहे
थे। मेरे सामने ही बैठी वे मुस्करा-सी रही थीं।

मुझे लगा जैसे उनकी हँसी का केन्द्र मेरी घुटी खोपड़ी है। और
... निकाल कर सिर पर रख लिया।

८

दूसरे दिन सूरज निकलने से पूर्व ही वे जाने वाली थीं। उस दिन घर में ढोलक के साथ गीत होने वाले थे। वे सिर दर्द की बात कहकर छत पर चली गईं। नीचे आंगन में गांव की औरतें गीत गा रही थीं। उन सब में कहीं भी सफेद साड़ी और बिखरे बाल दिखलाई न पड़े। मैं इधर-उधर उन्हें खोजने लगा। खोजते-खोजते छत पर जा पहुंचा।

छत के एक कोने पर दरी बिछाये वे आकाश की ओर मुंह किये हुए लेटी थी। उनके गाल का वह काला तिल चांदनी में चमक-सा उठा था। वे अपनी कल्पना के पंखों पर बैठी इतने वेग से उड़ी जा रही थीं कि जब मैंने कहा 'बुआ !' तब वे चौंक-सी पड़ी।

वे उठ कर बैठ गईं और मुझे भी पास ही हाथ पकड़कर बिठा लिया। बहुत देर तक हम दोनों में से कोई भी न बोला।

तब मैंने कहा—

"बुआ ! कल रुक जाइये।"

"कल की क्या बात है अनूप ! मेरा तो जी करता है जब तक तुम्हारी छुट्टियाँ हैं तब तक मैं यहीं रहूँ।"

"तो रहती क्यों नहीं बुआ ! अब खिरनी भी तो पकने वाली हैं। मैं आप के लिये पीली-पीली खिरनी लाया करूँगा। रुक जाइये बुआ !" कहते-कहते उनके हाथों को मैं झकझोरने-सा लगा।

…ह रुकती-सी बोलीं—
"…क सकती तो जाती ही क्यों ?"
"…यों नहीं रुक सकती ?"
"…कल घर पहुँच जाऊँगी। परसों पिताजी बनारस चले जायेंगे।
छुट्टियाँ समाप्त हो गई हैं। न गई तो बुरा मानेंगे।"
"मैं उन्हें मना लूंगा।"
"कहाँ मिलेंगे वे तुम्हें मनाने के लिए ?"
अपनी मूर्खता पर कुछ लजाता-सा होकर मैं बोला—"अच्छा, मैं …हें चिट्ठी लिख दूंगा।"
"चिट्ठी लिखने से नहीं चलेगा अनूप ! नहीं तो मैं स्वयं लिख देती।"
फिर बहुत देर तक हम दोनों चुप बैठे रहे।
मुझे बचपन की एक घटना याद आ गई। तब मैं तैरना सीख ही रहा था। गंगा में बाढ़ आई थी। सफेद मटमैला फेन उछालती गंगा की धार वेग से दौड़ती चली जा रही थी और मेरा मन उस दौड़ते पानी पर तैरने के लिये छपपटा उठा था।
आरती ! सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा। मैं बिना सोचे समझे गंगा की धार में कूद पड़ा। जब थोड़ी ही देर में हाथ-पैर थक गये तो उस धार से बाहर निकल आने के लिये हाथ पैर छटपटाने लगा पर गंगा मैया अपनी गोद से बाहर निकालने के लिये किसी भी प्रकार तय्यार नहीं हो रही थीं।
मेरे पैर इतने शिथिल हो गये कि उन्हें हिलाना भी कठिन हो गया। तब जानती हो मैं क्या सोच रहा था ?
"क्या सोच रहे थे ?"
"तब मैं सोच रहा था चाहे डूब जाऊँ पर किसी भी प्रकार मैं गं… की वह धार काटकर किनारा एक बार अवश्य छू लूं। मैं किसी प्रकार मृत्यु से पूर्व उस धार से पराजित नहीं होना चाहता था !
सो डूबता-डूबता सोच रहा था—क्या किसी भी प्रकार इस धा…

मैं नहीं काट सकता ? कैसे भी उस किनारे को न छू पाऊँगा ?"

मैं बोली—"फिर बचे कैसे अनूप बाबू ?"

वे बोले—"सो तो मैं नहीं जानता लेकिन जब मुझे होश आया तो देखा गाँव के दो आदमियों ने मेरे पाँव पकड़कर मुझे उल्टा टाँग रक्खा था और मेरे मुँह से पानी निकल रहा था। फिर कम्बलों में ढाँक कर मुझे लिटा दिया गया।"

लेटा-लेटा मैं सोचने लगा—चाहे कुछ हो गंगा की उस धार को मैं जीत कर छोड़ूँगा।

आरती ! मैं कष्ट उठा सकता हूँ किन्तु जीवन में मिली असफलता किसी भी प्रकार नहीं सह पाता। सो उस रात के समय जब मुझे लगा कि मैं उन बुआजी को किसी भी प्रकार नहीं रोक सकता तो मुझे बचपन की वही घटना याद आ गई और मेरे मुँह से निकल पड़ा—"क्या किनारे को नहीं छू पाऊँगा ?'

बुआजी बोली—"सो गये अनूप ?"

"नहीं तो !'

"मैं समझी सपने में बोल रहे हो। क्या कह रहे थे ? किसका किनारा नहीं छू पाओगे ?"

तब मैंने वही गंगा में डूबने वाली सारी घटना उन्हें सुना दी। कई बार घटना सुनते-सुनते उनकी आँखें डबडबा आती थीं और मुँह फेर कर बार-बार आँचल से आँखें पोंछ लेती थीं। फिर लम्बी साँस भर कर बोलीं—

"तब मैं रुक जाऊँगी अनूप ! नहीं जाऊँगी।"

"सच बुआ ?"

"हाँ"

पागलों की भाँति उनके दोनों हाथ खींचकर मैंने अपनी आँखों से लगा लिए। उन हाथों को अपनी जलती आँखों पर बहुत देर तक रक्खे मैं बैठा रहा।

...उनकी आँखों से झर-झर आँसू झर उठे।

उसी समय किसी के आने की पदध्वनि सुनाई पड़ी और बुआजी ने बड़ाकर अपने आँसू पोंछ डाले। मैंने मुड़कर देखा माँ जल्दी-जल्दी पैर ...ाती चली आ रही थीं। आकर खड़ी हो गईं।

माँ बोलीं—"कैसे हो तुम लोग ? सारा घर छान डाला और तुम यहाँ छिपे बैठे हो। अनूप ! तेरे पिताजी कब से चौके में बैठे हैं। चल खाना खा !"

फिर हैरानी से बोलीं —"यह अनूप तो पागल था ही अब लगता है बिटिया ! तुम भी इसी की जाति में मिल गई हो। भला, इतनी रात गये कोई छत पर आकर बैठता है !"

तभी पिताजी का आक्रोश भरा स्वर सुनाई पड़ा—"अनूप !"

मैं उठकर नीचे की ओर भागते-भागते आवाजें लगाते जा रहा था—"आया पिताजी ! आता हूँ !! आया !!!"

आरती ! उन दिनों गाँव के सारे आम खिरनी के पेड़ और बाग जैसे अपने ही थे। किसी भी बाग वाले ने यदि आम देने में आनाकानी की तो समझ लो रात-विरात में उसके आधे कच्चे आम जमीन पर त्रिल... जायेंगे और आधे गायब। यह एक प्रकार का शाश्वत सत्य था।

"सो कैसे अनूप बाबू ?"

"उस समय गाँव में मेरी एक शैतान चौकड़ी थी। वह किसी की इस प्रकार की अनुदारता सहन नहीं करती थी। जिस बाग के मा... आम न देने की अनुदारता दिखाते थे, उसे ठीक वैसे ही उजाड़ा ... था जैसे हनुमानजी ने रावण की वाटिका को उजाड़ा था। अन्तर इतना रहता था कि हनुमानजी अकेले थे और यहाँ अनेक बंदर हो...

इस प्रकार बाग के अनुदार मालिकों को हम लोगों ने कई बा... होने की शिक्षा और अनुदार होने का दण्ड दिया था।

सो अपने राम जिधर से भी निकलते थे बागवान् दौड़-दौड़...

से मीठे आम की भेंट दिया करते थे किन्तु खिरनी पेड़ पर चढ़कर ही तोड़नी पड़ती थी। गाँव में खिरनी के कुल मिला कर चार-पाँच पेड़ होंगे। उस समय खिरनी के प्रत्येक पेड की डाली-डाली से हमारा निकट परिचय था।

सुबह ही सुबह गाँव की वानर सेना का उन पेड़ों पर आक्रमण होता था। एक दिन मैं भी अपनी बुआजी के लिये पीली से पीली खिरनी तोड़ने के लिये कोने वाली खिरनी की डालियों पर चक्कर काट रहा था। मैं देर से पहुँचा था सो कहीं भी मीठी पीली खिरनी नहीं दिख रही थी।

एक डाली के अति किनारे पर खिरनियों के पीले गुच्छे मैंने देखे।

मुझे लगा जैसे वे गुच्छे मुझे चुनौती-सी दे रहे थे—कि आओ। तब जानें जब हमें छू लो। आओ ! आ सकते हो ?

और मैं धीरे-धीरे उस डाली की ओर बढ़ने लगा।

बढ़ते-बढ़ते सोचने लगा—बुआ इन बड़ी पीली खिरनी के गुच्छे को देख कर कैसे खिल उठेंगी। लगा जैसे वह खिरनी का गुच्छा न होकर उन पत्तों में बुआ का प्रसन्न उजला चेहरा झाँक रहा है और मैं आगे बढ़ता जा रहा था।

वह पतली डाल चर्राई और मैं ऊपर की डाल पर झूल गया। अंत में वह ऊपर की पतली डाल भी चर्र-मर्र कर टूट पड़ी। मैं डालियों, पत्तों से टकराता नीचे की ओर जाने लगा फिर मुझे पता नहीं क्या हुआ।

जब होश आया तो देखा कि माँ, बुआजी और दूसरे गाँव वालों से मेरे घर का आँगन भर गया है।

कोई दूध में फिटकरी डाल कर पिलाने का आदेश दे रहा था। कोई आम्बाहल्दी और चोटसब्जी को ऐसी चोट के लिये रामबाण होने की घोषणा कर रहा था।

मैं दाँत भींचे अपनी चोट का दर्द सहने का प्रयत्न कर रहा था। धीरे-धीरे गाँव वाले चले गए।

पिताजी उस दिन पास के शहर में गए थे। घर में रह गईं

और बुआ। गांव के जब सारे उपचार समाप्त हो गए तब मां चौके में रोटी बनाने चली गईं।

बुआ बैठी थीं मेरे पास। जिन करुण नेत्रों से वे मुझे उस समय देख रही थीं सो मैं कभी नहीं भूल पाता। डबडबाई आंखों से देखती-देखती बोलीं—

"मेरे लिये खिरनी लेने गए थे ?

अनूप ! अब मैं चली जाऊँगी ! नहीं तो ...।

कितनी बार पेड़ों पर चढ़ने के लिये मना किया पर मानते हो ?"

"......... ....।" मैं चुपचाप उन्हें देख रहा था।

"आज तुम्हें कुछ हो जाता तो ?" कह कर उन्होंने अपने हाथों से अपना मुंह ढक लिया फिर कुछ देर वे वैसे ही बैठी रहीं। आंचल से आंसू पोंछ कर कुछ शान्त-सी होकर बोलीं—"अब तो कभी पेड़ पर नहीं चढ़ोगे ?"

"नहीं बुआ ! मैं अब कभी पेड़ पर नहीं चढ़ूंगा।"

मैंने अपराध स्वीकार करते हुए कहा।

दस-पन्द्रह दिन तक वे मेरी चोट खाई हुई बांह में तेल की मालिश करती रहीं, सेंकती रहीं और जाने कितनी, कहां-कहां की, कैसी-कैसी बातों से मेरा मन बहलाती रहीं।

उस दिन उनके गांव का नाई आया था। घर से एक पत्र लाया था जिसमें मां की तबियत खराब होने के कारण बुआ को शीघ्र ही बुला... गया था।

लिखा था—खाना वहां खाओ तो पानी यहां पिओ।

उस रात वे उदास मेरे पास बैठी रहीं। उनके जाने की सूचना... से मुझे मिल गई थी और मैं जानता था कि इस बार रोक नहीं स... सो चुपचाप लेटा था।

रात-भर हम चुप रहे। मां अपने कमरे में सो गई थीं। पि... पास के गांव में कांग्रेस का प्रचार करने गए थे। अकेली बुआ मे...

बाँह को अपनी गोदी में लिये हौले-हौले उपलों की आग से सेंक रही थी।

उपलों की दहकती आग से उनका वह उजला मुँह गुलाबी हो उठा था। लेटा-लेटा एकटक उन स्नेहमयी बुआ का सुन्दर मुँह देख रहा था। धीरे-धीरे वे आग के अंगारे शांत हो गए। तब आकाश में शुक्र तारा उग आया था।

उस तारे की ओर देखते-देखते बुआ बोली—"अनूप! अगर मैं तारा होती तो तुम्हें रोज देखने आया करती। पता नहीं अब कब देखने को मिलोगे?" तभी मेरे माथे पर 'टप्' से आँसू की एक बूंद गिरी। मैं ऊपर की ओर सरकता गया।

उन्होंने मेरा सिर उठा कर अपनी गोद में रख लिया। चोट खाई बाँह को मैंने समेट लिया और दाईं बाँह को उनकी गर्दन में डाल कर उन्हें अपनी ओर झुकाने लगा। वे अवश-सी झुकती आईं। मैं उनके उन सुवासित-केशों से ढक-सा गया। मैं काँप रहा था और वे फूल-फूल कर सिसक रही थी। कितनी देर तक हम दोनों इसी प्रकार सिसकते-उफनते रहे थे।

उन्हें उस दिन जाना था सो चली गईं; किन्तु कई दिनों तक मुझे ऐसा लगता रहा कि वे गई नहीं हैं। जैसे मेरे पास हैं। मैं बाँह के दर्द से कराहता अपने आँगन से आकाश में झाँकते उस चन्द्रमा को घंटों पड़ा-पड़ा देखता रहता था।

उस चन्द्रमा को कभी-कभी काली बदलियों के छोटे-छोटे टुकड़े घेर लेते थे।

मुझे लगता था जैसे वे काली टुकड़ियाँ बुआ के बाल हैं और वह चन्द्रमा न होकर बुआ का चेहरा है।

कभी लगता कि उस चाँद में से झाँक-झाँक कर बुआ मुझे देख रही हैं। जब आकाश में शुक्र तारा निकलता तो लगता जैसे वे शुक्र तारा बन कर मुझे देखने आई हैं। उस शुक्र तारे को देखते-देखते झर-झर आँसू बरस उठते थे।

उन दिनों मेरी ऐसी मनोदशा हो उठी थी कि 'अपने' और 'उनके शरीर के' अलग-अलग होने का भाव ही भूल गया था। लगता था जैसे मेरे अन्दर ही बुआ समा गई हों।

कभी लगता था जैसे वे सारी रात बैठी मेरी बाँह अपनी गोदी में लिये सेकती रही हैं।

मैं बोली—"अनूप बाबू ! फिर कभी उनसे मिले ?"

वे बोले—"हां, मिला था। एक बार पिताजी के साथ उनके गाँव के पास ही बारात में गया था। उनके गाँव का नाम था किशनपुर। दिन भर मैं किशनपुर जाने की आज्ञा माँगने की बात सोचता रहा पर किसी भी प्रकार साहस न कर सका। अंत में संध्या समय मैंने पिताजी के सामने जाकर सिर झुकाए कहा—

"पिताजी ! मैं किशनपुर हो आऊँ ?"

वे ऐनक में से आँखें तरेरते बोले—"उल्लू कहीं का ! तेरा सिर तो नहीं फिर गया है ? साँझ होने वाली है और तुझे किशनपुर जाने की सूझी है।"

मैं चुपचाप वहाँ से हट कर उस गाँव के एक बाग में चला गया। एक पेड़ की जड़ से सिर पटक-पटक कर रोया था। तब शुक्र तारे की उगन में पागलों की भाँति किशनपुर की ओर दौड़ गया था।

किशनपुर में पूछते-पूछते उनके घर में घुसा। वे बिलोनी से दही बिलो रही थी। मुझे देखते ही दौड़ कर उन्होंने खाट बिछा दी।

गर्मी के दिन थे सो पानी में बूरा घोल कर शरबत बनाया। घर में केवल उनकी मां थीं। वे एक कमरे में बीमार पड़ी थीं।

मैं कैसे यहाँ पहुँचा हूँ सो हाँफते-हाँफते मैंने उन्हें सुना डाला। सुन कर पहले वे मुस्काईं फिर एक गहरी उदासी उनके चेहरे पर छा गई।

बोलीं—"तो जाओ ! जल्दी लौट जाओ !!"

सुन कर मुझे बहुत बुरा लगा किन्तु आज सोचता हूँ लौटाने में भी मेरे प्रति उनकी कितनी शुभाकांक्षा रही होगी। वे डब-डबाई आँखों से

देखती हुई बोली—

"अनूप जाओ! पिताजी नाराज होंगे। जाओ अनूप !!" कहते-कहते एक कटोरा दूध का भर लाई। जो मैं किसी भी प्रकार न पी सका। मैं उस कटोरे को मुंह लगाकर घूंट भरना चाहता था किन्तु पता नहीं मेरे गले में क्या अटक-सा रहा था कि गला बिल्कुल रुँध गया था।

तब मेरे सिर पर हाथ रखकर बोली—"अच्छा रहने दो।"

कहते-कहते उस दूध भरे कटोरे को लेकर एक ओर रख दिया।

रुँधे कंठ में आग्रह भरकर बोली—"अब जाओ!"

मैं उनके और उनकी माँ के चरणों पर माथा टेककर बिना पीछे देखे वहाँ से चल दिया।

भागते-भागते मुंह मोड़-मोड़कर मैं उनके घर की ओर देखता जाता था। तब मैंने देखा वे अपनी छत पर खड़ी हाथ हिला रही थी। मैं दौड़ता जाता था और दौड़ते-दौड़ते उस हिलते हाथ को देखता जाता था।

आरती अब भी कभी-कभी लगता है जैसे किसी ऊँची पहाड़ी पर खड़ी वे हाथ हिलाती मुझे विदा कर रही हैं। अब भी लगता है जै··· से।" फिर वे कुछ भी न बोल सके। तभी कोतवाली का घंटा बारह बार टन्-टन् की ध्वनि में आधी रात बीत जाने की चेतावनी देकर शान्त हो गया।

मैं बैठी-बैठी छत पर खड़ी हाथ हिलाने वाली अनूप बाबू की बुआ की कल्पना कर रही थी। उस कल्पना में ऐसी डूब गई कि कोतवाली के घड़ियाल की वह कर्णभेदी टन्-टन् भी न सुन सकी। तभी अनूप बाबू ने धीरे से कहा—"चलो आरती! बारह बज गये।"

मैंने चौंक कर कहा—"क्या? बारह?"

बोले—"हाँ, कहाँ थी तुम?"

मैंने हँसते हुये कहा—"सच, आपकी बुआ के पास ही थी अनूप

बू आपकी मेज पर उन्हीं बुआ की फोटो है न ? वे गोल कठ

हकर खड़े हो गये ।

अनूप बाबू वहां खड़े-खड़े इधर-उधर कुछ देखते रहे फिर बड़ी सात्र-

धानी से नीचे की ओर उतरने लगे। रुकते से बोले—"कितनी बार इस

स्थान पर मैं आया हूं आज लगता है कि अब मैं कभी भी यहां न

आ सकूंगा।"

मैं रुकती-सी बोली—"ऐसे क्यों सोचा करते हैं ?"

९

उस पहाड़ी से उतरते-उतरते बोले—"आरती ! कभी-कभी मुझे लगता है जैसे भविष्य की घटनाएँ मेरे सामने चित्रित-सी हो उठती हैं। मुझे कई महीनों से लग रहा है जैसे मेरा अन्त समय अब निकट आ गया है। इसीलिये कहता हूँ अब जीवन में यहाँ कभी न लौट सकूँगा। कितना अच्छा होता यदि अपना सारा जीवन पहाड़ी की इस चोटी पर ही बिता देता किन्तु''''

मैंने कुछ अधिकार-सा जताते कहा—"अच्छा रहने दीजिये अब"

फिर बहुत देर तक हम दोनों चुपचाप चलते रहे। मैंने जिज्ञासा-भरे स्वर में पूछा—"अनूप बाबू, इस किताब को आप छपवायेंगे ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"मैंने छपवाने के लिए नहीं लिखी है।"

"तो फिर क्यों लिखी थी ?"

"''''''''''''''''''''''''''''''''''''''"

"न लिखते तो क्या होता ?"

"शायद किसी पागलखाने में भर्ती होना पड़ता।"

कहकर वे खिलखिला पड़े, किन्तु यह उनकी 'खिल-खिल' श्मशान के किनारे बहती गंगाजी की 'कल-कल' जैसी मुझे लगी थी।

सुनकर कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। ... एक सिपाही ने हमें ...
रोड से आ रहे थे। चौराहे पर खड़े एक सिपाही ने हमें ...
लिये कहा।
ने देखा कि अनूप बाबू चौंककर चार कदम पीछे हट गये। सोचने
—इतने चौकन्ने होने की क्या बात थी? मैंने कानों से सुना वे
कमर के पास ओवर कोट के नीचे कुछ खट्-खट् गिन रहा था।
में उन्होंने बताया था कि वे पिस्तौल के कारतूस थे।
सिपाही ने पास आकर कहा "बाबू! माचिस तो नहीं होगी, बीड़ी
ती थी।"

'नहीं' मात्र कहकर अनूप बाबू आगे बढ़ दिये। फिर माल रोड की
ाल पर चलते-चलते वे रुक गये।

बोले—"आरती उधर देखो कैसा लग रहा है।"

छोटी-छोटी पहाड़ियों में छोटे-छोटे सफेद बादल आ-आकर भर गये
थे। छोटी पहाड़ियों के बीच वे बादल पानी की भाँति भर उठे थे और
किनारों पर ऊँची-ऊँची पहाड़ियों की चोटियाँ दिख रही थीं। उस
चाँदनी में लग रहा था जैसे ठौर-ठौर पर झिल-मिल करती झीलें भरी हैं।

मैं बोली—"बिलकुल झीलें जैसी लग रही हैं।"

तब अनूप बाबू बोले—"तभी तो मैं कह रहा था जो हम अपनी
आँखों से देखते हैं वही 'सत्य' नहीं है। सत्य उससे भिन्न भी हो सकता
है। कितना कठिन है 'सत्य' को पालेना।

आरती! देखो भाप की ये टुकड़ियाँ बिलकुल झील जैसी दिख
रही हैं। इसी प्रकार जीवन में कितने असत्य सौन्दर्य के झीने-झीने
रंगीन आवरण में लिपटे हमारे सामने आते हैं और हम उनका वास्तविक
अर्थ समझे बिना उनमें अपना मन रमा लेते हैं। जब एक दिन य...
सत्य प्रकट होता है तब सिर पकड़कर हम रो उठते हैं। सिर धुनते हैं
तब जानती हो आरती क्या होता है?"

मैं बोली—"क्या होता है अनूप बाबू तब।"

तब कवि का हृदय चीर कर कविता फूट निकलती है। चित्रकार अपने खून मे उस 'सत्य' की कल्पनाओं को चित्रित करता है, गायक अपने सुरों में ऐसी व्यथा भरता है जिसे सुनकर मन अन्दर ही अन्दर दहाड़ें मार-मार कर रो उठता है और मुझ जैसा मनुष्य जो कुछ भी नहीं जानता सो टेढ़े-मेढ़े अक्षरों मे अपनी कहानी लिखकर छोड़ जाता है।

जिनके लिए टेढ़ी-मेढ़ी रेखा खींचना कठिन है उनके मन में उमड़ती विगलित करुणा आँसू बनकर ढरक उठती है, वही हैं जीवन के अपने-अपने पाथेय—कविता ! कला ! आँसू !

और मैं अनूप बाबू की ओर मुँह फाड़े देखने लगी।

बोले—"ऐसे क्यों देख रही हो आरती ?"

"लगता है आपने बहुत निराश होकर लिखा है।"

"...............।" वे चुप रहे।

"अनूप बाबू ! एक बात मेरी समझ में नहीं आती।"

"क्या ?"

"जब आप जानते हैं कि ये झील नहीं है फिर झील होने की कल्पना ही क्यों करते हैं ?"

"ऐसी कल्पनाओं से एक प्रकार की तुष्टि-सी होती है आरती !"

"क्यों होती है ?"

"बात यह है कि मानव की शारीरिक भूख से भी बड़ी उस की सर्वहारा मानसिक भूख होती है। झील, नदी, पहाड़ ये सब उसकी युग-युग की भूख है। इसीलिए शहरों में रहकर भी हमारे ड्राइंग रूम इन्ही प्राकृतिक दृश्यो के चित्रो से भरे रहते हैं। और इसी प्रकार पुरुष के लिए नारी और नारी के लिए पुरुष एक मानसिक भूख है।

इस प्रकार की भूख मानव और पशु दोनो मे समान ही होती है।

किन्तु मनुष्य ने 'धर्म संस्कृति विवेक' के सहारे उस युग-युग की भूख को नियन्त्रित कर डाला है या करने का प्रयत्न करता है। हम उस अतृप्त वासना या नियन्त्रित भूख को 'कला' का रूप दे कर ...

तुष्टि करते हैं।

जो यह भी नहीं कर पाते वे पागल हो जाते हैं। और पागल बन कर अपनी उन्हीं अतृप्त इच्छाओं को कभी हँसकर, कभी रोकर घोषणायें करते हैं। सामाजिक दृष्टि से वे इच्छायें कितनी ही नीची मानी जायें किन्तु वे हैं स्वाभाविक। पागल अपने विवेक के चौकीदार को मार कर ही ऐसी घोषणायें कर पाते हैं।

हम उन पागलों पर हँसते हैं। समाज हँसता है। राजतन्त्र उन्हे उठा कर जेल में बन्द कर देता है। किन्तु इससे क्या होगा? क्या होगा इससे? कौन कुचल सका है हमारे अतृप्त अवचेतन को ? स्वप्न, कला, पागलपन कुछ भी कह लीजिए। उस अतृप्त वासना को ऊपर आने के लिए कुछ आधार चाहिये। बाहर निकालने में ही मन को एक प्रकार की तुष्टि-सी मिलती है। आरती ! इन कल्पनाओं में हमें आनन्द मिलता है।" कहते-कहते वे अचानक चुप हो गये।

मैंने धीरे-से कहा—"क्या हुआ अनूप बाबू ?"

बोले—"पता नहीं मैं क्या-क्या कह गया ? कुछ दिनों से मुझे यह स्नायुविक रोग-सा हो गया है। या तो मैं बिलकुल चुप रहता हूँ या बोलता हूँ तो घंटों बोले जाता हूँ। अच्छा चलो।" कहकर वे चलने लगे।

मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगी, चलते-चलते सोचने लगी—क्या हो गया है इन्हें ? पुलिस से इतना डर क्यों गये थे। तब कमर के पास हाथ रखे खट्-खट् क्यों गिन रहे थे ? किताब क्यों लिख रहे थे ? क्या लिखा होगा उस में ? शायद मेरे बारे में भी कुछ लिखा होगा ? लिखा होगा !

सोचते-सोचते उस किताब को घर जाकर पढ़ने के लिए मेरे पैर जल्दी-जल्दी उठने लगे। मुझे पता ही न लगा कि कब मैं आगे निकल गई और जब कोठी के फाटक पर पहूँची तब समझ पाई कि कोठी आ चुकी है। हम दोनों धीरे-धीरे कोठी की उस कंकडीली चढ़ाई पर चढ़ने लगे।

ऊपर पहुँचकर हम लोगों ने छोटी बहू का स्वर सुना। वे धाय माँ से पूछ रही थी—

"वे लोग कब गये थे आया ?"

"साँझ होते ही चले गये थे !"

"अच्छा !"

"घर मे रहे या बाहर बात तो एक ही है छोटी बहू !"

"क्या मतलब ?"

"घर मे हो तो उस अतिथि-घर मे दोनो बैठे रहते थे। बाहर तो साथ रहते ही हैं।" तभी मैंने सुना वह चिरपरिचित आक्रोश भरा स्वर—"आया !"

मेरा सारा बदन काँप उठा। अनूप बाबू ने आगे बढ़कर मेरे सिर पर हाथ रखकर थपथपाया और आगे बढ़ गये।

मैं उनके पीछे-पीछे बढ़ने लगी। वे चुपचाप अपने कमरे में चले गये और मैं अपने कमरे मे जाकर बिछौने पर [illegible] आ पड़ी। बहुत चाहा कि छोटी बहू से जाकर मिल आऊँ पर [illegible] न आ सकी।

तभी किसी ने किवाड़ खटखटा [illegible] छोटी बहू [illegible] मुसकरा रही हैं। मुझे लगा जैसे [illegible] फाड़े उन्हे देख रही थी।

वे आगे बढ़ीं और [illegible] हाथ ठण्डे हो रहे थे। [illegible] तब मैं समझ पाई कि [illegible]

मैं हड़बड़ [illegible]

सोचने लगी—यह व्यंग है या वास्तविकता। तभी मैंने देखा कि बाँह पर 'टप' से एक बूंद गिरी। फिर टप्-टप् आंसू उनकी आंखों से निकल-निकल कर गिरने लगे।

वे आंचल से आंखें पोंछती खड़ी हो गईं और जाते-जाते बोलीं—"अच्छा आरती, जाती हूँ। तुम सो जाओ।" कहकर वे किवाड़ फेरती चली गईं।

आन्टी के स्थान पर पहली बार उन्होंने 'आरती' सम्बोधन किया था। इतना अपनापन!? यह दुराव कैसे मिट गया? कैसे? कैसे? वे रोईं थीं। क्यों? क्यों?

जिनके भय से मैं थर-थर कांप रही थी। सो वे मेरे गले में हाथ डाल कर रोईं क्यों? क्यों? क्या है यह सब? क्या है? सोचते-सोचते दोनों हाथों से अपना सिर दबाती मैं बिछौने पर इधर-उधर करवटें लेने लगी।

फिर सोचने लगी—अवश्य ही अनूप बाबू की किताब में कुछ रहस्य की बात होगी। मैंने झपट कर अनूप बाबू द्वारा दी गई उस कापी को खोला और पढ़ने लगी।

९०

साधना

• •

मौनी बाबा

मैं जिज्ञासा-भरे मन से कापी को पढ़ने लगी—

पराजय मैंने कभी नहीं मानी। हार मैं कभी स्वीकार न कर सका सो देश-भक्ति का प्रसाद 'फांसी' खाकर चुपचाप मर जाना मैं जीवन की सबसे बड़ी पराजय मान कर जेल की उस कोठरी में छटपटाता रहा। लगता था जैसे जेल की वह मनहूस ऊँची दीवाल मुझे चुनौती दे रही है और मैं उस दीवाल को छलांग कर बाहर आने के लिये बिलबिलाने लगा।

उन्ही दिनो पता नही किसने कैसे एक छोटी पर्ची मेरे पास पहुँचाई जिसमें दिन, समय और बाहर आने की सम्पूर्ण विधि का संकेत था।

एक दिन मैं सचमुच ही उस दीवाल को छलांग कर बाहर निकल आया। विजयी तो हुआ किन्तु बाहर आकर जो कुछ सुना, जिस प्रकार का व्यवहार जनता से मिला, उससे लगा जैसे उस जीत मे भी हार छिपी थी।

मैं बाहर आकर सोचने लगा—इतने लम्बे-चौड़े संसार में कहाँ है मेरे लिये स्थान ? जहां भी, जिस घर और गाँव मे गया वहाँ मेरी देश-भक्ति की बात फैल गई थी। जिन घरों मे मेरी फोटो की पूजा होती थी उन्ही घरों में मैं दुत्कार दिया जाता था।

अब सोचता हूँ जिन्हें मैं जीवन का सहारा मान बैठा था, ■

ये तो बाहर क्यों आया ? भटकता-भटकता आज यहाँ
हाँ मुझे नहीं आना था, जहाँ चाह कर भी न आना चाहता था।
आकर सोच रहा हूँ क्यों आया। क्यों? क्यों? कब तक यूँ ही
पता-लुकता भागता रहूँगा ?

भागते-भागते अब मैं थक गया हूँ। थककर चूर-चूर-सा हो गया
हूँ। लगता है जैसे आज मैं एक हारा हुआ सैनिक हूँ। मैं हूँ उस अनूप
की लाश मात्र जिसका खून पानी बन गया है। लाश! शव !!

आज अपने जीवन के इस अन्तिम छोर पर खड़ा होकर जब समूचे
विगत जीवन की ओर मुड़कर देखता हूं तो लगता है कि शायद ही किसी
के जीवन में एक साथ इतनी विडम्बनाएं घटित हुई हों। सोचते-सोचते
आकाश में झाँकते चन्द्रमा को देखने लगा हूँ।

यह चन्द्रमा! आकाश की छाती फाड़कर निकला था धरती पर
सौन्दर्य बिखेरने! प्रकाश फैलाने! और अब स्वयं ही एक लम्बी-चौड़ी
बदली में छिपता जा रहा है। थोड़ी देर छिपकर यह फिर बाहर निकल
आयेगा—किन्तु मेरे जीवन पर दुर्भाग्य की जो यह काली बदली छा गई
है सो कब हटेगा? कभी हट भी सकेगी?

मैं चला था सौन्दर्य की खोज में, प्रकाश की टोह में और मिल
अन्धकार, कारागृह का जीवन। जेल में फाँसी खाकर मर क्यों नहीं गया

सोचते-सोचते ध्यान आता है, अपने बचपन का। तब मेरी उ
तेरह वर्ष की रही होगी। किसी पुस्तक में बालक ध्रुव की कहानी
थी फिर गांव में एक दिन ध्रुव लीला देखी तो उस रात किसी भी
नींद नहीं आई थी।

लेटा-लेटा सोचता रहा था—इस ध्रुव पर एक बार अन्याय हुअ
भगवान की खोज में भाग निकला किन्तु मेरे जीवन में कित
पिताजी ने मुझ निरपराध को पीटा और झिड़का है। कितनी बा
में बिना बात के बेंतों से सड़ोका गया हूँ। तो क्या ध्रुव की
नहीं पा सकता उस 'नारायण' के दर्शन?

मैंने एक दिन निश्चय किया चाहे कुछ हो मैं 'भगवान्' के दर्शन करके छोड़ूंगा।

जाने कितने साधु, सन्तों, वैरागियों और जादू टोने वालों से भगवत् प्राप्ति का मार्ग बताने के लिये उनकी पूजा की, सेवा की, टहल की, उनकी धूनी के पास बैठ-बैठकर कितने रात-दिन बिताये थे।

धूनी के सामने लंगोटी लगाये, पद्मासन पर जमे बाबाओं के मुखार-विन्द से आश्चर्यजनक यात्राओं और चमत्कारों को सुन-सुनकर गद्-गद् हो उठता था। घने जंगलों में शेर, चीतों के साथ दोस्ती करने की रोमांचक कहानियाँ सुनी। भात की तरह बिखर जाने वाले कन्दमूल की कहानी सुनकर कई दिनों तक सोचता रहा कि मैं भी ऐसे कन्दमूल खाकर कहीं एकान्त में भगवान् का भजन करूंगा। मैं भगवान् के दर्शन करके लौटूंगा। फिर झिड़कने और पीटने वालों को बताऊँगा कि मैं कोई उल्लू और जानवर नहीं हूं, मैं भी ऐतिहासिक बालक अनूप हूँ।

मैं भगवान् की खोज में इधर-उधर भटक रहा था। किसी ने बताया कि गंगा के पीपला घाट पर बने शिवजी के मन्दिर में बैठकर जप करने से भगवान् के दर्शन शीघ्र ही हो सकते हैं। सो पढ़ाई-लिखाई छोड़कर मैंने उसी मंदिर में जाकर आसन जमा लिया।

उन दिनों मैं बनारस में एक अलग मकान लेकर रहता था। पिताजी रुपये भेजते थे स्कूल का शुल्क और अन्य खर्चों के लिये किन्तु मैं संसार से विरक्त कुछ बाबाओं और वैरागियों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले बैठा था। वैराग्य के जाने कितने श्लोक, भजन और दोहे याद कर लिये थे जिन्हें आँखों में आँसू भर-भर कर गाया करता था। उनमें से एक दोहा तो मुझे अब तक याद है :—

माटी कहे कुम्हार से क्यों तू रूँधे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँधूगी तोहि॥

उस दिन मेरे पास पैसे नहीं थे और सुबह से भूखा था। सो 'जब दांत दिये तब अन्न न दीहै ?' के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास और आशा

ीपला घाट के मन्दिर में शिवजी की मूर्ति के सामने
गया ।

दिन भर और फिर आधी रात तक एक आसन पर बैठे-बैठे शरीर
ड़-सा गया । तभी लगा जैसे वह मूर्ति फटने लगी है । शरीर का
म-रोम सिहर उठा । मन जह्लाद से भर गया । सोचा, अब मुझे भी
गवान् के दर्शन होंगे किन्तु वह मूर्ति न फूटी, न टूटी । तब मैंने हाथ से
उस मूर्ति को छुआ । जो दरार दिखलाई पड़ी थी उस पर उँगली फिराई ।
तब वह सत्य प्रगट हुआ कि दरार पहिले ही पुरानी होने के कारण प
चुकी थी । निराश होकर उस मूर्ति को अपनी बाहों में लपेटे वहीं गि
गया । लगा जैसे मन्दिर के बाहर प्रकाश हो रहा है । वह प्रकाश धीरे-
धीरे मन्दिर के निकट आता जा रहा है । लगा जैसे भगवान् इस मूर्ति
से न निकल कर विमान से उतर रहे हैं मुझ बालकभक्त की टेर सुनकर
धाये आ रहे हैं और मैं सावधान होकर बैठ गया । आँखें बन्द किये चित्र
में जिस प्रकार बालक 'ध्रुव' को देखा था ठीक उसी मुद्रा में मैं बैठा था ।

मन ही मन सोच रहा था—भगवान् आकर गदा पद्म शंखचक्र
धारण किये सामने खड़े हो जायेंगे—तब कहेंगे—"बालक ! मैं तेरी
तपस्या से अति प्रसन्न हूं । बोल क्या मांगता है ?" सोचने लगा क्या
मांगूंगा ? क्या मागूंगा ? तब निश्चय किया कि दो वरदान मागूंगा । एक
वरदान से 'जादू का डंडा' मांगूंगा जो तनिक से इशारे से मुझे डाँट
फटकारने वालों को पीट-पीटकर जमीन पर बिछा देगा और दूसरे वरद
से 'जादू की टोकरी' मागूंगा जिससे मन चाहे पदार्थ प्राप्त हो ज
फरेंगे— रुपये पैसे, मिठाइयां, कपड़े, जो चाहूं सो सब । फिर ध्यान अ
इतनी देर हो गई भगवान् तो आये ही नहीं ।

तभी लगा जैसे प्रकाश मेरी आँखों के सामने आ चुका है औ
ही मन सोचने लगे—नारायण ! तुम कितने दयालु हो ।
इस बालक को दर्शन दे ही दिये । भक्त की पुकार सुन ही ली ।
सिंहासन हिल ही गया । और उनके दर्शन करने के लिये मैंने आँखें

सामने देखा एक बंगालिन काली माई की पुजारिन हाथ में लालटेन लिये खड़ी है जिसे मैंने कई बार गंगा के घाट पर पिछले दिनों घूमते देखा था।

वह बोली—"बचा ! इसी उमर में तुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। तू मेरे साथ चल। उठ बेटा।"

मैंने किसी किताब में पढ़ा था कि भगवान् कभी-कभी स्वयं न आकर किसी का रूप धारण करके आते हैं सो यह भगवान् ही हैं और बुढ़िया का रूप धारण करके आए हैं। मैं गद्-गद् होकर उस बुढ़िया पुजारिन के चरणों पर गिर पड़ा। उसने मुझे उठा कर अपनी छाती से चिपटा लिया।

पता नहीं वह बुढ़िया किस दुःख और व्यथा को लेकर बैरागिन बनी थी। शायद मेरी उम्र का उसका इकलौता बेटा अकाल मृत्यु से मरा हो और मुझे छाती से चिपका कर अपने बेटे की उसे याद आई हो। क्या बात थी सो तो मैं नहीं जानता किन्तु जब छाती से चिपटा कर वह हिचक-हिचक कर रो उठी तब पहले भगवान् की कल्पना से, फिर अपनी माँ की याद करके मैं भी हिचक-हिचक कर रो उठा था।

उस बैरागिन की एक गुफा गंगाजी के किनारे मरघट के पास ही थी। उस दिन दुर्गा अष्टमी का दिन था। भोर होते ही मुझे अपनी गुफा में बिठा कर वह शहर में चली गई। मैं दिन-भर उसी गुफा में भूखा पड़ा रहा। जब शाम को लौटी तो उसकी गोद में एक बकरी का बच्चा था। उस बच्चे को जमीन पर रख कर उसने दिया जलाया। दिया जला कर एक काली धोती लेकर वह गंगाजी की ओर चली गई और मैं उस बकरी के बच्चे से खेलने लगा।

तब यह कल्पना मिट चुकी थी कि भगवान् इस बुढ़िया के रूप में आए हैं। हाँ, उस बुढ़िया ने मुझे यह विश्वास दिला दिया था कि वह भूत-प्रेतों से मेरी दोस्ती करा देगी। मैंने सोचा था कि उन भूत-प्रेतों द्वारा मन चाही चीजें भी प्राप्त कर सकता हूँ और जब चाहूँ तब किसी को मरम्मत भी करा सकता हूँ। सो भगवान् नहीं मिलेंगे तो न सही जो काम ध्रुव के भगवान् कर सकते थे वही काम ये भूत-प्रेत भी तो कर

पिपला घाट के मन्दिर में शिवजी की मूर्ति के सामने जाकर ... गया।

दिन भर और फिर आधी रात तक एक आसन पर बैठे-बैठे शरीर ...ड़-सा गया। तभी लगा जैसे वह मूर्ति फटने लगी है। शरीर का ...म-रोम सिहर उठा। मन अह्लाद से भर गया। सोचा, अब मुझे भी ...गवान् के दर्शन होंगे किन्तु वह मूर्ति न फूटी, न टूटी। तब मैंने हाथ से उस मूर्ति को छुआ। जो दरार दिखलाई पड़ी थी उस पर उँगली फिराई। तब वह सत्य प्रगट हुआ कि दरार पहिले ही पुरानी होने के कारण पड़ चुकी थी। निराश होकर उस मूर्ति को अपनी बाहों में लपेटे वहीं गिर गया। लगा जैसे मन्दिर के बाहर प्रकाश हो रहा है। वह प्रकाश धीरे-धीरे मन्दिर के निकट आता जा रहा है। लगा जैसे भगवान् इस मूर्ति से न निकल कर विमान से उतर रहे हैं मुझ बालकभक्त की टेर सुनकर धाये आ रहे हैं और मैं सावधान होकर बैठ गया। आँखें बन्द किये चि... में जिस प्रकार बालक 'ध्रुव' को देखा था ठीक उसी मुद्रा में मैं बैठा था

मन ही मन सोच रहा था—भगवान् आकर गदा पद्म शंख... धारण किये सामने खड़े हो जायेंगे—तब कहेंगे—"बालक ! मैं ते... तपस्या से अति प्रसन्न हूं। बोल क्या मांगता है ?" सोचने लगा ... मांगूंगा ? क्या मांगूंगा ? तब निश्चय किया कि दो वरदान मांगूंगा। ... वरदान से 'जादू का डंडा' मांगूंगा जो तनिक से इशारे से मुझे डां... फटकारने वालों को पीट-पीटकर जमीन पर बिछा देगा और दूसरे वर... से 'जादू की टोकरी' मांगूंगा जिससे मन चाहे पदार्थ प्राप्त हो ... करेंगे—रुपये पैसे, मिठाइयां, कपड़े, जो चाहूं सो सब। फिर ध्यान ... इतनी देर हो गई भगवान् तो आये ही नहीं।

तभी लगा जैसे ... आँखों के सामने आ चुका है ... ही मन सोचने लगे ... कितने दयालु हो ... इस बालक को दर्शन दे ... पुकार सुन ही ली ... सिंहासन हिल ही गया। ... के लिये मैंने आँ...

बिखरे बाल—उलटे पैर—अंग भंग ! निराकार, साकार और मैं भय के मारे कांप उठा।

मैंने देखा—उस वैरागिन ने छुरी निकाली। छुरी निकाल कर एक पत्थर पर तेज करने लगी। और मुझे याद आया कि कहीं किताब में पढ़ा था—काली माई के पुजारी बच्चों और आदमियों का सिर काट कर काली माई के चरणों पर चढ़ाया करते हैं। यह याद आते ही मैं थर-थर कांपने लगा। मैंने झपट कर उस गड़े हुए त्रिशूल को उखाड़ लिया।

मैं बोला—"देख बुढ़िया ! तू एक ओर को हट जा। मुझे बाहर जाने दे। यदि तू ने मुझे मारना चाहा तो मैं भी यह सारा त्रिशूल तेरे पेट में भोंक दूंगा।" सुन कर वह वैरागिन हंसने लगी। बोली—बच्चा घबरा नहीं। मैं तुझे क्यों मारूंगी ! चल इधर आ। मैं हिला नहीं। त्रिशूल लिये वहीं सावधानी से खड़ा रहा और मन ही मन हनुमानजी का जाप करता रहा—

जै हनुमान ज्ञान गुण सागर। जै कपीस तिहुँ लोक उजागर ।।

कई बार दादी ने मुझे समझाया था कि संकट के समय हनुमान चालीसा के इस दोहे का जाप करने से संकट दूर हो जाते हैं सो उसी "हनुमान चालीसा" के उस 'संकट मोचन मंत्र' का जाप किये जा रहा था। जाप करते समय मेरे पैरों की पिंडलियाँ कांप रही थी।

छुरी हाथ में लिये वह बुढ़िया आगे बढ़ी और मैंने अपने त्रिशूल का मुंह बुढ़िया की ओर घुमाया।

आज सोचता हूँ यदि वह बुढ़िया मेरी ओर दो कदम और उठाती तो अवश्य ही उस दिन उस बुढ़िया को मार कर 'हत्यारा' होने का कलंक अपने माथे पर लगा लेता। किन्तु जब मैंने देखा वह बुढ़िया मेरी ओर न देख कर उस बकरी के बच्चे की ओर देख रही है तब मेरी जान में जान आई।

उस पुजारिन ने उस बच्चे को अपने पैरों के नीचे दबा लिया और, उसकी गर्दन पर छुरी रक्खी। उसकी भोली आँखों के बीच एक हसकी

खा उस दीये के प्रकाश में चमक रही थी। बकरी का बच्चा
मेरी ओर देख रहा था जैसे प्राण बचाने की मूक पुकार कर रहा
फिर एक "में ! में !!" खून की फुहार। सिर अलग। धड़ अलग।
पैर अब भी काँप रहे थे, फिर सब कुछ शांत हो गया। शांत !
!!

मैंने त्रिशूल वहीं रख दिया और कोने में चुपचाप बैठ गया। उसने
री के बच्चे का खून एक प्याले में भरा। उसका माँस काट कर दूसरे
ले में रक्खा। सिर काट कर एक थाली में रक्खा। फिर विधि-विधान
काली माई की पूजा की।

वह बोली—"बच्चा ! अब चल मरघट पर। अभी लौट कर माई
का परसाद तुझे खिलाएँगे।" वह आगे-आगे और मैं उसके पीछे-पीछे
डरता-काँपता चल दिया।

वह वैरागिन मरघट में जाकर खड़ी हो गई। चारों ओर मुर्दे जल
रहे थे। नीली-पीली ज्वालाएँ "चटर-पटर चिट्ट-चिट्ट" की आवाजें करती
जल रही थीं। दुर्गन्ध के कारण साँस नहीं ली जा रही थी। तभी बुढ़िया
ने एक चिता से लम्बी लकड़ी खींची और इधर-उधर उन जलती चिताओं
को देखती-देखती घूमने लगी। फिर एक चिता से जलती सुरसुराती किसी
मनुष्य की खोपड़ी निकाली। उसे लुढ़काती-लुढ़काती गंगा के किनारे की
ओर ले गई। वहाँ पानी से ठंडा करके उसे उठा लाई।

उस खोपड़ी को हाथ में लिये जाने कैसी विचित्र भाषा में उसने मंत्र
बोले फिर जोर से उसी भाषा में बातें-सी करने लगी। मुझे लगा जैसे
चारों ओर से भूत-प्रेतों ने मुझे घेर लिया है और मैं उन भूत-प्रेतों के बीच
खड़ा हूँ। मुझे लगा जैसे वे सब आँखें चमकाते मुँह फाड़े, पंजे खोले
मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। मैं डर के मारे वहीं आँखें बंद करके धड़ाम
से गिर पड़ा।

उस वैरागिन का स्वर सुनाई पड़ा—'चल बच्चा !" और मैं उ
वैरागिन के पीछे-पीछे उठ कर चल दिया। गुफा में जाकर उसने का

माई का प्रसाद मेरे सामने रख दिया—माँस, खून और शराब।

वह खा रही थी, पी रही थी और मुझे लगा जैसे मेरी जीभ ऐंठी जा रही है। मेरा जी मिचलाने लगा।

मैंने कहा—"अभी आता हूँ।"

मैं गुफा से बाहर निकला। बाहर आते ही दम तोड़ कर भागने लगा। बिना पीछे मुड़े भागे जा रहा था और मन ही मन यह सोच-सोचकर काँप रहा था कि उस वैरागिन द्वारा भेज गये भूत-प्रेत मुझे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौड़े आ रहे हैं।

मैं अपनी कोठरी में हाँफता-हाँफता आ गिरा। कोठरी में अंधेरा था। मुझे लगा जैसे उस बुढ़िया के भूत-प्रेत चारों ओर खड़े आँखें चमकाते मुझे ताक रहे हैं। कभी किसी के मुँह सुना था कि भूत-प्रेत प्रकाश के सामने नहीं आते सो मैंने सरसों का तेल भर कर दीपक जलाया और जला कर हड़बड़ी में रोज की जगह न रखकर दूसरे ताख में रख दिया।

कोठरी में मिट्टी का दीपक जल रहा था और मैं चुपचाप भय के मारे काँपता-सा पड़ा था। अभी तक दिल 'धक्-धक्' कर रहा था। तभी वह दीपक नीचे गिरा। भय के मारे साँस रुकने-सी लगी। काँपते हाथों से उसमें तेल डाला और जल्दी में फिर जला दिया। जला कर वहीं फिर रख दिया।

लेटा-लेटा उस दीपक को देखता जा रहा था। और मन ही मन सोच रहा था—हे भगवान्—हे बजरङ्गी हनुमान! तुम्हीं रक्षा करो। क्या उस वैरागिनी द्वारा भेजे गये भूत-प्रेत मुझे पकड़ने आ चुके हैं? क्या वे ही इस दीपक को उठाकर फेंक देते हैं? वे नहीं फेंकते तो कौन फेंक रहा है? भूत है! भूत है! राम!

यह दीपक फिर हिलने लगा और मैं सोचने लगा कोई भूत-प्रेत खड़ा उस दीपक को हिला रहा है।

मेरी चीख निकलनी चाही पर अब भी मैं हिम्मत बाँधे था, किन्तु मेरे देखते-देखते जैसे ही वह दीपक फिर नीचे गिरा वैसे ही मैं चीख

रेखा उस दीये के प्रकाश में चमक रही थी। बकरी का बच्चा ...
मेरी ओर देख रहा था जैसे प्राण बचाने की मूक पुकार कर रहा
फिर एक "में ! में !!" खून की फुहार। सिर अलग। धड़ अलग।
पैर अब भी काँप रहे थे, फिर सब कुछ शांत हो गया। शांत !
व !!

मैंने त्रिशूल वहीं रख दिया और कोने में चुपचाप बैठ गया। उसने
करी के बच्चे का खून एक प्याले में भरा। उसका मांस काट कर दूसरे
याले में रक्खा। सिर काट कर एक थाली में रक्खा। फिर विधि-विधान
त काली माई की पूजा की।

वह बोली—"बच्चा ! अब चल मरघट पर। अभी लौट कर माई
का परसाद तुझे खिलाएँगे।" वह आगे-आगे और मैं उसके पीछे-पीछे
डरता-काँपता चल दिया।

वह वैरागिन मरघट में जाकर खड़ी हो गई। चारों ओर मुर्दे जल
रहे थे। नीली-पीली ज्वालाएँ "चटर-पटर चिट्ट-चिट्ट" की आवाजें करती
जल रही थीं। दुर्गन्ध के कारण साँस नहीं ली जा रही थी। तभी बुढ़िया
ने एक चिता से लम्बी लकड़ी खींची और इधर-उधर उन जलती चिताओं
को देखती-देखती घूमने लगी। फिर एक चिता से जलती सुरसुराती किसी
मनुष्य की खोपड़ी निकाली। उसे लुढ़काती-लुढ़काती गंगा के किनारे की
ओर ले गई। वहाँ पानी से ठंडा करके उसे उठा लाई।

उस खोपड़ी को हाथ में लिये जाने कैसी विचित्र भाषा में उसने मंत्र
बोले फिर जोर से उसी भाषा में बातें-सी करने लगी। मुझे लगा जैसे
चारों ओर से भूत-प्रेतों ने मुझे घेर लिया है और मैं उन भूत-प्रेतों के बीच
खड़ा हूँ। मुझे लगा जैसे वे सब आँखें चमकाते मुंह फाड़े, पंजे खो...
मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। मैं डर के मारे वहीं आँखें बंद करके धड़ा...
से गिर पड़ा।

उस वैरागिन का स्वर सुनाई पड़ा—'चल बच्चा !" और मैं
वैरागिन के पीछे-पीछे उठ कर चल दिया। गुफा में जाकर उसने क...

माई का प्रसाद मेरे सामने रख दिया—मांस, खून और शराब।

वह खा रही थी, पी रही थी और मुझे लगा जैसे मेरी जीभ ऐंठी जा रही है। मेरा जी मिचलाने लगा।

मैंने कहा—"अभी आता हूँ।"

मैं गुफा से बाहर निकला। बाहर आते ही दम तोड़ कर भागने लगा। बिना पीछे मुड़े भागे जा रहा था और मन ही मन यह सोच-सोचकर काँप रहा था कि उस वैरागिन द्वारा भेज गये भूत-प्रेत मुझे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौड़े आ रहे हैं।

मैं अपनी कोठरी में हाँफता-हाँफता आ गिरा। कोठरी में अंधेरा था। मुझे लगा जैसे उस बुढ़िया के भूत-प्रेत चारों ओर खड़े आँखे चमकाते मुझे ताक रहे हैं। कभी किसी के मुँह सुना था कि भूत-प्रेत प्रकाश के सामने नहीं आते सो मैंने सरसों का तेल भर कर दीपक जलाया और जला कर हड़बड़ी में रोज की जगह न रखकर दूसरे ताख में रख दिया।

कोठरी में मिट्टी का दीपक जल रहा था और मैं चुपचाप भय के मारे काँपता-सा पड़ा था। अभी तक दिल 'धक्-धक्' कर रहा था। तभी वह दीपक नीचे गिरा। भय के मारे साँस रुकने-सी लगी। काँपते हाथों से उसमें तेल डाला और जल्दी से फिर जला दिया। जला कर वहीं फिर रख दिया।

लेटा-लेटा उस दीपक को देखता जा रहा था। और मन ही मन सोच रहा था—हे भगवान्—हे बजरङ्गी हनुमान! तुम्हीं रक्षा करो। क्या उस वैरागिनी द्वारा भेजे गये भूत-प्रेत मुझे पकड़ने आ चुके हैं? क्या वे ही इस दीपक को उठाकर फेंक देते हैं? वे नहीं फेंकते तो कौन फेंक रहा है? भूत है! भूत है! राम!

वह दीपक फिर हिलने लगा और मैं सोचने लगा कोई भूत-प्रेत खड़ा उस दीपक को हिला रहा है।

मेरी चीख निकलनी चाही पर अब भी मैं हिम्मत बाँधे था, किन्तु मेरे देखते-देखते जैसे ही वह दीपक फिर नीचे गिरा वैसे ही मैं चीख

—"भूत ! भूत !!" और मेरी घिग्घी बंध गई । दांत किटकिटा

जब सवेरा हुआ तब समझ पाया कि रात भर मैं कोठरी की मिट्टी
में अचेत पड़ा रहा हूं । यह भी अनुभव किया कि आंखें जल रही
। सारा शरीर ज्वर से तप रहा है । प्यास के मारे कंठ सूखा जा रहा
। जैसे-तैसे उठकर गिरते पड़ते घड़े से ठंडा पानी गिलास में उड़ेला
और दो गिलास पानी पी गया ।

तब लगा कि कुछ चैन-सा आ गया है । धीरे-धीरे चलकर चारपाई
की ओर आया ।

तभी मैंने देखा एक छोटी-सी चुहिया उस दीपक के मैल को चाटती-
सी घूम रही है । तब रात वाले उस भूत का रहस्य मैं समझ पाया कि
गणेशजी के इसी वाहन ने अपने मालिक गणेशजी के पिता भगवान् शंकर
के सेवक भूत-प्रेतों का नाटक रचा था ।

दीपक को मैंने चुहिया के नये बनाये बिल पर रख दिया था । सो
वही मेरी इस अनाधिकार चेष्टा के विरुद्ध विद्रोह कर रही थी । किसी
का घर द्वार बन्द कर देना अनुचित तो है ही । सो उसी चुहिया ने ठेल
कर उस दीपक को दो-दो बार गिरा दिया था और तब इस बात पर उस
ज्वर में भी पड़ा-पड़ा कुछ देर हंसता रहा था ।

सूरज डूब गया था । कोठरी में अंधेरा बढ़ता जा रहा था । पत
नहीं क्यों अंधेरे के साथ ज्वर और भय दोनों ही बढ़ते जा रहे थे ।

मुझे लगा जैसे उस अंधकार में कोई कोठरी के भीतर आया है
चरं ! मरं ! चरं ! मरं !" की आवाज मैं सुन रहा था । अब मुझे निश
हो गया कि उस बैरागिन के दूत भूत-प्रेत कल तो मुझे जीवित
गये थे पर आज नहीं छोड़ेंगे । कल तो वे निराकार आये थे आज सा
सदेह ही आ धमके हैं । भय के मारे मेरी चीख निकलनी चाही ।

मैंने उस आने वाले का स्वर सुना—'अनूप !' वह स्वर मेरे

जी का था और मुझे लगा जैसे एक सन्दक से निकल कर दूसरे सन्दक में आ पड़ा हूँ।

ज्वर में कांपते-कांपते मैंने दीपक जलाया। अपना बिस्तर नीचे उतार कर उनका बिस्तर खाट पर बिछाने लगा तभी बढ़कर उन्होंने अपना हाथ मेरे माथे पर रखकर कहा—"कह नहीं सकता था कि बुखार आ गया है ?"

११

दूसरे दिन मेरी तबियत ठीक थी। पिता जी के पास बैठा मूंग की दाल का पानी पी रहा था दाल का गुनगुना घूंट पीते-पीते मैंने पिताजी के चेहरे की ओर देखा। उस कठोर चेहरे पर वात्सल्य उमड़ा आ रहा था।

वे धीरे से बोले—"अनूप, जब तू छोटा था तब मैं तेरी मां और सभी सोचते थे कि बड़ा होकर तू हमारे कुल का दीपक बनेगा किन्तु यहां से जो खबरें मिली हैं सो सुनकर तेरी मां तो उसी दिन चारपाई पर पड़ गई और मैं······ मैं·······सोचता हूं·······।" मैंने सिर उठाकर उनकी ओर देखा।—पिताजी का चेहरा कठिन-सा होता जा रहा था।

वे रुकते-रुकते कहे जा रहे थे—"···किशन लाल के लड़के मनोहर को देखो, गुलजारी के लड़के को देखो·······सब पढ़ते हैं। अपने घर की ओर देखते हैं। और एक तू है·······परसों यहीं से कोई गया था········ चौपाल पर बैठकर सबके सामने उसने कहा,···पण्डितजी का लड़का अनूप तो आवारा हो गया है।

महीनों से स्कूल नहीं गया सो स्कूल वालों ने रजिस्टर से नाम भी काट दिया है। जात अनजात के घरों में रोटी खाता है। रात भर घर से बाहर रहता है। निठल्ले साधू वैरागियों के साथ रहकर भंग गांजा पीता है।" "भंग···गांजा···" कहते-कहते चोट खाये सर्प की भांति पिताजी फुंकारने से लगे। उनकी आंखों के डोरे लाल पड़ गये।

मैं जानता था कि जिस किसी शुभचिन्तक ने यह खबर गाँव तक पहुँचाई है उसमें बहुत कुछ सत्यांश था किन्तु जो रूप मेरा चित्रित किया गया था, वह मैं नहीं था।

पिताजी ने मेरे उस शुभचिन्तक की बातों पर पूर्ण विश्वास सा ही कर लिया था। मैं अपने में डूब-सा गया और फिर मैं नहीं सुन सका कि वे क्या-क्या कहे जा रहे थे किन्तु अन्त में जो कुछ मैंने सुना सो लगा जैसे किसी ने खौलता तेल मेरे कर्ण विवरों में उड़ेल दिया है।

वे कह रहे थे—"तू जन्मते ही मर क्यों नहीं गया? आज हम कहीं भी मुँह दिखलाने लायक नहीं रहे।··तूने अपने पंडित वंश का नाम डुबो दिया··तू···!"

मुझे लगा जैसे मेरे कानों में सुनने की शक्ति शेष नहीं रही है। कानों में कुछ सांय-सांय-सा हो उठा। मैंने देखा पिताजी बिना खाये थाली पटक कर चौके से उठ गये। कपड़े पहिन कर बाहर चले गये। *शायद वे मेरे स्कूल की ओर गये थे।*

मैं चारपाई पर औंधा पड़ा सिसक रहा था। लगा जैसे पिताजी के स्वर में स्वर मिलाकर सारा संसार चीख-चीख कर कह रहा है—"तू जन्मते ही मर क्यों नहीं गया! मर क्यों नहीं गया! मुँह दिखाने लायक नहीं रहे·········मुँह दिखाने लायक! ·········पण्डित वंश का नाम········· डुबो दिया—नाम डुबो दिया!" नाम डुबो दिया! "लगा जैसे मेरे अन्दर बैठा कोई कह रहा है—नीच! डूब मर जाकर गंगा में! जा!! जा!! डूब मर गंगा में! जन्मते ही नहीं मरा तो अब मर जा! मर जा!! जा! जा!!" वंश का नाम डुबो दिया तो जा तू भी डूब! डूब!! डूब मर गंगा में!

मुझे लगा जैसे मैं पागल हो जाऊँगा। मैं पागलों की भाँति गंगाजी की ओर दौड़ पड़ा। मुझे पता ही नहीं चला कि कब मैं उस पीपला घाट की ऊँची बुर्ज पर चढ़ा और कब गंगाजी में कूद पड़ा।

फिर इतना याद है कि हाथ पैर ढीले किये मैं डूब रहा था। ... में

पानी भर जाने से खाँसते-खाँसते ही मैं पानी में नीचे-नीचे बहुत नीचे चला गया किन्तु जब चेत आया तब देखा कि पीपला घाट की ऊपर वाली कोठरी में दिन रात भजन करने वाले मौनीबाबा मुझे अपनी बाहों में उठाये सीढ़ियों पर चढ़ रहे हैं।

मैंने अपना हाथ उठाना चाहा किन्तु उठा नहीं सका उन्होंने एक विशेष क्रिया से पेट में भरा पानी निकाला। फिर किसी बूटी को पत्थर पर घिस कर उसका रस मेरे मुँह में निचोड़ दिया। थोड़ी देर बाद मेरे शरीर में शक्ति-सी जाग उठी। बाबा मेरी ओर दृष्टि जमाये देख रहे थे।

मुझे लगा जैसे मेरे मन में भरी घृणा, हिंसा, जलन, ज्वाला, तपन सब कुछ जो अब तक जलाता आ रहा था, धीरे-धीरे शान्त-सा होता जा रहा है। जब मैं बिलकुल शांत हो गया तब ओठों पर मीठी हँसी बिखेरते बाबा बोले—"बेटा! कुछ दिनों से तू पीपला घाट की मठिया में आकर जाप भी किया करता था और इधर अश्वमेध घाट की ओर पड़े वैरागियों में भी बैठता उठता था। मैंने तुझे एक-दो बार देखा था। उधर बैठता था न ? मैं मन ही मन सोच रहा था कि इन मौनी बाबा ने मौन क्यों तोड़ दिया ?

'हाँ बाबा' कहकर चुप हो गया।

तब फिर एक मीठी मुस्कान से उनका समस्त मुख उज्ज्वल-सा हो उठा। धीरे-से बोले—"बेटा! वह सब तेरा जप तप मात्र 'पलायन' था। जीवन से भागना था। इसी लिए आज तू इस संसार से भी भागा जा रहा था। भगवान् का भजन भागने के लिये नहीं कहता जमने के लिए शक्ति देता है। तू भाग मत, फिर लौट जा। जीवन से भागना, दुनिया को त्यागना कायरता है।

तू जीवन से युद्ध कर, संघर्ष कर और विजयी बन। मेरा आशीर्वाद है कि तू एक दिन विजयी होकर मेरे पास लौटेगा। विजयी ! विजेता !!" कहते-कहते बाबा ने मेरे माथे पर अपना हाथ रक्खा।

मुझे लगा जैसे नींद-सी आ रही है और फिर मैंने देखा जैसे मैं

किसी विशाल पर्वत की तलहटी के अन्धकार में खड़ा हूँ और वे मौनी-बाबा उस पर्वत की चोटी पर बैठे हैं।

वे अपनी मीठी मुस्कान बिखेरते मुझे ऊपर आने के लिये हाथ उठाये संकेत-सा कर रहे है। मैं उस चोटी पर पहुँच जाने के लिये चढने लगा। तभी एक संकीर्ण मार्ग आया जिस पर पैर रखना भी कठिन हो रहा था। उस मार्ग के इधर-उधर गहरे गढ्ढे थे जिनमें बनैले नर भक्षी पशु और डरावने विषधर फन उठाये फुंकार रहे थे। मैं भय से कांप उठा। और अब गिरा! अब गिरा सोचकर चीख पड़ा।

तभी उन मौनीबाबा का कठ सुनाई पड़ा—"घबरा नहीं बेटा! चला आ! बढ़ा आ!! यह सब माया है! भ्रान्ति है! छलना है चल! बढ!! और मैं हाँफता-हाँफता चोटी पर पहुँच गया। वहाँ बैठे बाबा के चरणों में लोटने लगा। तभी मेरी आँखें खुल गईं। सामने बाबा बैठे मुस्करा रहे थे। मैं आज तक यह नहीं समझ पाया कि वह सब क्या था? मूर्छा? स्वप्न?

उन मौनी बाबा ने अपने तपोबल से मुझे ऊपर उठने की प्रेरणा, शक्ति, साहस दिया था? क्या उसी को योगी कहते हैं—समाधि? आनन्द?

कुछ भी हो अपने जीवन-पथ के अन्तिम छोर पर खड़ा आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उस दिन बाबा ने जो जीवन सूत्र दिया था वही मेरे जीवन-पथ का पाथेय-सा बन गया है। उसी के सहारे आज तक मैं चला आ रहा हूँ, नहीं तो जिसे मैं अपना सब कुछ समझता था, जिसे मैंने अपना सब कुछ दे दिया था, जो मेरे सुख-दुख की चिर संगिनी-सी बन गई थी, जो जीवन के टेढ़े-मेढे, ऊँचे-नीचे मार्गों पर मेरे साथ पग से पग मिलाये बढ़ी जा रही थी—जिसने विदेशी सत्ता को उलट फेंकने के लिये मेरे साथ तिल-तिल कर मर मिटने की सौगन्ध खाई थी, सो जब वही बीच में छोड़कर चली गई तब उस दिन की भाँति गं

कर मर न जाता! कैसे जीवित रहता आज तक?

किन्तु अब मुझसे नहीं चला जा रहा है। मैं टूट-सा गया हूँ। लगता है जैसे बाबा का वह पाथेय भी अब निबट चला है। सब कुछ डूबा-सा होता जा रहा है। चारों ओर अन्धेरा-सा घिरता आ रहा है। अन्धेरा! अँधेरा और कुछ नहीं।

मैं लेटा-लेटा इन मौनीबाबा की ओर देख रहा था। सोचने लगा—आज इन्होंने अपना मौन क्यों तोड़ दिया? अपनी वर्षों की साधना क्यों नष्ट कर डाली? क्यों? किस लिए?

मैंने देखा आनन्द से उनका मुख उज्ज्वल हो उठा है। वे हँसी बिखरते से बोले—"बच्चा! वैसी तू आशंका न कर। यदि मेरा मौन-भंग तेरा जीवन बचा ले तो यह मौन से भी बड़ा पुण्य है।" मैं सोचने लगा—कैसे जान ली मेरे मन की बात इन बाबा ने? वे कहे जा रहे थे, "मौन तो दूसरों का कल्याण करने के लिये शक्ति प्राप्त करने का साधन है, मात्र साधन। मौन मौनी का ध्येय नहीं है। ध्येय है लोक कल्याण! यही तो आज इस देश के बाबा बैरागी भूल गये हैं। यही तो.........।" कहते-कहते बाबा ने आँखें बन्द कर लीं।

वे पद्मासन पर जम कर बैठ गये। देखा उनका शरीर काठ जैसा कठोर होता जा रहा है। उस दिन मैंने देखा जीवन में प्रथम बार प्रथम योगी को। योगी की उस समाधि अवस्था को!!

मुझे लगा जैसे मेरे अन्दर कुछ परिवर्तन-सा हो रहा है। जैसे मन में भरा अन्धकार मिटता जा रहा है। जैसे अन्दर बाहर सब दिशाओं में प्रकाश फैल रहा है। अन्दर ही अन्दर कोई कह रहा है—उठ! उठ!! घर लौट जा! संघर्ष कर!! लौट! लौट!!

मैं उठा और बाबा के चरणों के पास माथा टेका। उनके चरणों की धूलि माथे पर लगाई और वहाँ से चुपचाप चल दिया। कोठरी में आकर देखा—पिता जी चले गये थे। मैं सीधा गाँव की ओर चल दिया। दूसरे दिन सूरज डूबते-डूबते मैं गाँव के किनारे पहुँच गया।

गाँव के किनारे खड़ा-खड़ा सोच रहा था—तो घर घुसते ही क्या

होगा ? माँ क्या कहेगी ? गाँव वाले मुझे क्या समझेंगे और पिताजी ?

मैंने अनुभव किया जैसे मेरे पैर काँप उठे हैं। मुझे लगा जैसे उस अन्धकार में बाबा का वह उज्ज्वल चेहरा चमक उठा है और मेरे पैर घर की ओर बढ़ने लगे।

सबसे पहिले मैं माँ के कमरे में गया। वे चुपचाप छत की ओर देख रही थी। ताख में दीया जल रहा था। लगा जैसे पिताजी घर में नहीं हैं। माँ की आँखें सूज रही थीं। उससे मैंने समझ लिया कि अभी-अभी वे रो चुकी हैं। मैंने उनके चरणो पर माथा टेक दिया।

वे हड़बड़ाती-सी उठीं और बोली—"अनूप ! मेरा अनूप !! बेटा !" कहते-कहते उन्होंने मुझे छाती से चिपका लिया। वे हिचक-हिचक कर रो उठी। तभी हाथ में दूध की भरी मटकी लिये पिताजी आये। वे गाय का दूध निकाल कर लाये थे। कुछ देर खड़े रहे फिर दूध की भरी मटकी रख कर अपने कमरे मे चले गये।

मैंने डरते-डरते माँ से पूछा — माँ अब क्या होगा ? पिताजी मुझे डाटेंगे ? अब कभी नहीं बोलेंगे ?"

आँचल से आँसू पोंछती माँ बोली—"ऐसा नहीं बोलते है बेटा ! तू क्या जाने पिताजी के मन की बात। जब से आये है चुपचाप कमरे में लेटे रहते हैं। रात को बुखार चढ़ आया था। बुखार की तेजी में कैसे रोये थे। कैसे तुझे याद किया था सो मै कभी न भूल पाऊँगी। नौकर छुट्टी पर गया है सो बुखार ही में सब काम काज कर रहे हैं। बुखार ही मे गाय का दूध निकालकर लाये है। तू जा बेटा क्षमा माँग ले। वे कुछ भी नहीं कहेंगे' और मै चुपचाप बैठा रहा।

माँ बोली—"अच्छा चल मैं चलती हूँ।"

मैं माँ को साथ लेकर उनके कमरे मे गया। वे दीवान के

ज ऐसी पिटाई होगी कि छठी की याद आयेगी ; किन्तु पिता जी
ा चेहरा देखकर वह उठता भय मिट गया ।

जीवन में पहली बार मैंने देखा उनके उस पीले चेहरे पर वात्सल्य । स्नेह-प्यार । पितृत्व की छाप । मुझे लगा जैसे वे मात्र पिता थे ! पिता !! उन्होंने खींचकर मुझे हृदय से लगा लिया किन्तु बोले एक शब्द भी नहीं ।

उन क्षणों में प्रथम बार मैं समझ सका कि आज तक अपने पिताजी का जो रूप बचपन से देखता आ रहा हूं उससे भिन्न भी उनका एक रूप है । उस रूप को देखकर मैं आत्मग्लानि से भर उठा—तभी मेरे मुंह से निकला—"पिताजी !" उत्तर में उन्होंने कुछ भी न कहा ।

जिन्हें मैं अब तक पत्थर माने बैठा था सो उनमें भी कहीं कुछ पिघल उठा था । तभी मेरी बांह पर 'टप्-टप्' बूंदें गिरीं ।

कानों ने सुना—पिताजी की दीर्घ निश्वास ! लगा जैसे उनके प्रति मनमें भरी घृणा, हिंसा सब कुछ उस एक निश्वास में उड़ गया है । उस उष्ण उसांस में जल भुनकर भस्मीभूत हो गया है । उन आंसुओं की दो बूंदों में उनके प्रति मन में भरी हुई हिंसा डूब-सी गई है ।

१२

बुआजी

कनक

उन दिनों मैं बनारस के होस्टल में रहता था। जुलाई मास की भीगी साँझ थी। मैं होस्टल की छत पर लेटा उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देख रहा था। उन बादलों को देख-देखकर मेरी आँखें भर आती थीं। मैं गर्मी की लम्बी छुट्टी के बाद गाँव से लौटा था और साथ लाया था अपनी बुआ की स्मृति। ऐसी स्मृति जिसके साथ लिपटी थी उनकी विगलित करुण दृष्टि।

मुझे लगा जैसे वे एक सफेद बादल के सिरे पर आ बैठी हैं। जैसे उनकी वे स्नेह से दीप्त काली आँखें विमुग्ध दृष्टि से मेरी ओर देख रही हैं। मेरे देखते-देखते वह बादल खण्ड-खण्ड होकर बिखर गया।

मुझे लगा जैसे मैं भी उस बादल की भाँति बिखरा जा रहा हूँ। सारा शरीर टूटने-सा लगा। मेरी मुट्ठियाँ बँध गईं। मैं उन मुट्ठियों को खाट की पाटी पर पटकने लगा।

नीचे से एक स्वर सुनाई पड़ा—'अनूप!' होस्टल के सुपरिन्टेण्डेंट मि० गुप्ता मुझे पुकार रहे थे।

मि० गुप्ता होटल के सुपरिन्टेण्डेंट थे। साथ ही स्कूल में अंग्रेजी भाषा के शिक्षक भी थे।

सुनते हैं किसी समय इस देश में गुरुकुल थे। जहाँ मास की शुल्क जमा नहीं होती थी। तब वहाँ सारी शिक्षा-दीक्षा निःशुल्क होती थी।

रूप में विद्यार्थी के पास थी सेवा और श्रद्धा। गुरु के पास थी और उससे भी बड़ा अपने विद्यार्थियों में विश्वास, वात्सल्य।
मि० गुप्ता को देखकर मुझे कहानियों में पढ़े गुरुकुल के गुरुजी याद आते थे। उनके चेहरे पर सदा एक प्रकार की सौम्यता-सी बिखरी थी। कभी किसी विद्यार्थी ने उन्हें क्रोध करते नहीं देखा। उनका दुबला-पतला शरीर था। कुछ भी सोचते समय अनामिका में पहनी स्वर्ण मुद्रिका को दूसरे हाथ के अंगुष्ठ और मध्यमा से दबाकर घुमाते थे। इस प्रकार जब भी वे उस अंगूठी को घुमाते थे तभी मैं समझ लेता था कि आज गुप्ताजी किसी चिन्ता में हैं।

सो उनकी पुकार सुनकर जब मैं नीचे आया तो देखा वे सीढ़ियों के पास खड़े हैं। खड़े-खड़े अपनी उसी स्वर्ण मुद्रिका को धीरे-धीरे घुमा रहे हैं। हम सब मि० गुप्ता को 'भाई जी' कहते थे।

मैंने धीरे-से कहा—"भाई जी! आपने मुझे बुलाया था?" बोले—"हाँ बेटा! आज तू घर पर सो जाना। मैं आठ की गाड़ी से आगरे जा रहा हूँ।"

भाई जी की पत्नी प्रायः गाँव में रहती थीं। सुना था उनकी लड़की इलाहाबाद में पढ़ती है और किसी होस्टल में रहती है तो हवा बदलने के लिये बनारस आ गई है और होस्टल से कुछ दूर किराये के मकान में सब रह रहे हैं।

तभी भाई जी बोले—"न हो तो मेरे साथ ही चले चलो। मकान ढूँढ़ने में अड़चन होगी।" मैंने कहा—"जी, चलता हूँ।" मकान पास ही था सो थोड़ी ही देर में हम लोग मकान के द्वार पर जा खड़े हुये।

भाई जी ने धीरे-से कुण्डा खटखटाया। दूसरी बार वे खटखटाने का उपक्रम कर ही रहे थे तभी किसी की पदचाप सुनाई पड़ी। पता नहीं क्यों मैं सोचने लगा—वही हैं। वे, जो इलाहाबाद में पढ़ती हैं! पीली सी होंगी; स्वास्थ्य जो ठीक नहीं है।

सामने देखा—वह किवाड़ खुल गया। एक हाथ में किताब थी

दो चोटियाँ थी। माँ उनमें से एक कन्धे पर लोटती-सी आगे सफेद साड़ी पर बिखर गई थी। लगता था जैसे वे कुछ पढ़ रही थी और पढ़ते-पढ़ते उठ आई हैं। शायद बहुत देर से पढ़ रही थीं सो पलक कुछ भारी से हो गये थे।

अपने उन काले लम्बे पलकों को झपका कर उन्होंने मुझे देखा। मुझे लगा जैसे मैं धरती मे गड़ा जा रहा हूँ। सोचने लगा—ऐसा भी होता है क्या? ऐसा सौन्दर्य! अप्रतिम!! अलौकिक!!! और सारे शरीर में कंपकंपी-सी दौड़ उठी।

भाई जी बोले—"आओ बेटा!"

थोड़ी देर बाद भाई जी चले गये। तब बीच के बड़े कमरे मे भाई जी की पत्नी नीचे बिछी चटाई पर बैठ गईं। खिड़की के पास रक्खी कुर्सी पर वे दो चोटी वाली बैठी-बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही थी। गृह-स्वामिनी ने स्वर में दुलार भर कर कहा—"बिटिया कनक! अब तो कुछ खा ले।"

"ऊँहुँउ" रूठनी-सी बोली।

"क्यों?"

"भूख नही है माँ।"

"कुछ तो खा ले। ऐसे कैसे चलेगा?"

"अच्छा।" कहकर कनक खड़ी हो गई। फिर माँ के पास जाकर कुछ कहा। क्या कहा सो मैं नहीं जानता पर अनुमान है कि उन माँ बेटी ने मेरे भोजन के सम्बन्ध में कुछ बात की थी।

वे गृहस्वामिनी बोली, "बेटा! तू भी कुछ खा ले।"

"भूख नहीं है जी", मैंने सिर झुकाये कहा।

हँसती हुई बोलीं—"कैसा है यह शहर। किसी को भूख ही नही लगती।"

"सो तो नहीं है", कहकर मैं चुप हो गया।

तब अपनत्व-सा दिखाते कहा—"गुरुजी का घर तो अपना ही घर

होता है बेटा ! इतना सकुचाते क्यों हो ? आओ थोड़ा-सा तो चख लो।"

भूख मुझे लग रही थी। होस्टल में भोजन की घण्टी को बजे देर हो गई थी। सो यह भी निश्चित-सा ही था कि वहाँ अब कुछ भी न मिलेगा।

सोच रहा था—दौड़कर किसी पास की दुकान से खा-पी आऊँगा। और किसी तरह आज की रात काट डालनी होगी।

पता नहीं क्यों उन दिनों भूख भी ऐसी लगती थी कि तीन जनों जितना अकेला ही खा जाता था। सो भूख के मारे अन्तड़ियों में कुछ कुरुर-मुरुर सी हो रही थी। "अच्छा थोड़ा-सा तो चख लो।" सुनकर अपने आप ही मुँह से निकल गया "अच्छा जी।"

उस कमरे से बाहर आया। तभी एक मीठी-सी आवाज आई—"यहाँ रक्खा है सब कुछ।" सोचने लगा—क्या रक्खा है सब कुछ ?

उधर मुड़कर देखा एक लकड़ी के स्टैण्ड पर छोटा सफेद बगुले के पंख जैसा तौलिया रक्खा था। पास ही नये 'सोप केस' में हरा साबुन रक्खा था। एक लोटे में पानी था और पास ही चमकता गिलास रक्खा था।

जीवन के विगत सोलह वर्षों तक तो यही क्रम चला आ रहा था कि भोजन के पूर्व और पश्चात् भागते-दौड़ते ही हाथ धोये थे सो वह सब कुछ नया-सा ही लगा था। मैं वहीं बैठ गया।

सोचने लगा—इस साबुन का क्या होगा ? क्या इस से अभी हाथ धोने होंगे ? यदि इनके यहाँ भोजन से पहले साबुन से हाथ धोने का नियम है तो धो लूंगा। ऐसा नियम न हुआ तो 'उल्लू' बनूंगा। क्या करूँ ? हे भगवान् ! मैं लकड़ी की चौकी पर बैठा इसी उधेड़बुन में पड़ा था। तभी वह काँपती आवाज़ आई—"और कुछ चाहिये ?"

'नहीं' कहकर मैं मन ही मन कहने लगा—इस 'सब कुछ' के मारे ही मैं झमेले में पड़ गया हूँ। अब 'और कुछ' का क्या होगा ? मैंने निश्चय कर लिया कि साबुन का प्रयोग अभी नहीं करूँगा। दुनियाँ हाथ

धोकर भोजन करती है सो वही मैं भी करूँगा। अभी साबुन का क्या होगा और मैं पानी से हाथ धोकर उठने लगा।

तभी मैंने सुना—'साबुन उधर रक्खा है।' सुनकर मुझे लगा जैसे चोरी पकड़ी गई है। मैं कठोर अध्यापक के सामने खड़े भीरु विद्यार्थी की भाँति सहम-सा गया फिर सामने पड़े साबुन को उठाया। हाथ धोये और परोसी गई थाली के सामने जा बैठा।

माँ परोस रही थीं और हम दोनों खा रहे थे। मैं सिर झुकाये खा रहा था। कुछ देर बाद मैंने सिर उठाया और चोरी से उनकी ओर देखना चाहा। वे बैठी-बैठी दबी हँसी हँस रही थी।

खुलकर न हँसने के कारण वह पीला चेहरा गुलाबी हो उठा था। कभी वे माँ की ओर देखती थी कभी माँ उनकी ओर देखती थी।

मेरी निगाह माँ के सामने रक्खे खाली कटोरदान पर पड़ी। 'मैं' जो भूख न होने के कारण भोजन नहीं करना चाहता था मो वही 'मैं' उनके सारे घर की रोटियाँ उदरस्थ कर चुका था। खाली कटोरदान लिये माँ धर्मसंकट में पड़ गई थी।

सारी परिस्थिति समझकर मैंने धीरे से कहा—"बस माँ! अब नहीं चाहिये।"

मेरी बात सुनकर माँ ने लम्बी साँस ली जैसे एक बड़े संकट से मुक्ति पाई हो। उस प्रकार की साँस लेने को कनक नहीं सह पाई। वह थाली को छोड़ कर जैसे-तैसे मुँह दबाये बड़े कमरे की ओर भाग गई।

चौके मे मैं स्पष्ट सुन पा रहा था कि वह मुँह को दबाये हँस रही है। मुझे लगा जैसे मुँह का ग्रास मैं किसी भी प्रकार न निगल पाऊँगा। जैसे तैसे मैं उस ग्रास को निगल गया। उठकर हाथ धोने के लिये आगे बढ़ा।"

देखा—वहाँ कोई नहीं है सो जल्दी से मैंने हाथ धोये और उठ खड़ा हुआ। सदा की भान्ति हाथ छिटक कर सोने के कमरे की ओर दौड़ा। मुझे किधर सोना है सो माँ ने पहिले ही बता दिया था।

वही स्वर सुन पड़ा—'तौलिया उधर है !' लगा जैसे किसी ने पीठ पर कोड़ा मारा हो। मैं सरकस में सिखाये गये घोड़े की भाँति लौट पड़ा। तौलिये से हाथ पोंछकर अपने कमरे में जाकर लेट गया।

लेटे-लेटे सोचने लगा—मैं भी कैसा हूँ। हे भगवान् ! तूने मुझे शहर में पैदा क्यों नहीं किया ? न ढंग, न शहूर। फिर कितनी भूख देकर इस दुनियाँ में तूने मुझे भेजा है। माँ के लिये एक रोटी भी तो न छोड़ी।

माँ कह रहीं थीं—"बिटिया, आज रामायण नहीं सुनायेगी ?

"आज नहीं माँ।"

"नहीं बिटिया।"

"ऊँ हूँ।"

"बिटिया, नित का नेम नहीं तोड़ते हैं। आ जा।"

मैं कमरे में लेटा-लेटा सोच रहा था—कंठ मीठा है। सो ऐसे मधुर कण्ठ से पढ़ी गईं चौपाइयाँ तो सुनने को मिलेंगी। लगा जैसे 'मूर्ख' बनने का दुख कुछ कम होता जा रहा है। तभी वह काँपता मीठा कण्ठ सुनाई पड़ा—

"हा रघुवर ! हा ! प्राण पिरीते।"
"तुम बिन जियत बहुत दिन बीते !!"

उस आर्द्र कम्पित स्वर को सुनकर मैं द्रवित-सा हो उठा। ऐसा लगा जैसे चारपाई सहित आकाश में उड़ा जा रहा हूँ। पता नहीं मैं कब सो गया। जब उठा तब लगा जैसे अब भी कोई गा रहा है—

"तुम बिन जियत बहुत दिन बीते !"

उस दिन क्या पता था कि यह 'तुम बिन जियत बहुत दिन बीते।' एक दिन मेरे जीवन का 'सत्य' बन जायेगा।

सुबह उठकर जब मैं जाने लगा तभी माँ ने कहा—"चाय तो पीते जाओ बेटा।"

"नहीं माँ !"

रसोईघर से आवाज आई—"तैयार है माँ !" और मैं अपने उन

नए मास्टरजी की अवज्ञा न कर सका। माँ ने मुझे चाय की मेज़ पर जा कर बिठा दिया। मेज़ पर बहुत-से चीनी के बर्तन रखते थे। मैं ठहरा पंडित, यज्ञोपवीतधारी संस्कारी ब्राह्मण बालक, सो मेरे विप्र-वंश में चीनी के बर्तनों में खाने-पीने का निषेध था।

मैं बैठा-बैठा सोच रहा था—इन बर्तनों में चाय पीकर क्या आज धर्म भ्रष्ट करना ही होगा! कैसे मना कर सकूँगा? मैं इसी गोरख-धंधे में उलझा था तभी वे घनी पलकों वाली विशालाक्षी विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखती बोलीं—

"आप इनमें पी लेते हैं?"

"नहीं, हाँ आँ ऽ ऽ" कहते-कहते मेरी जीभ लड़खड़ा-सी गई और वे हँसती दूसरे कमरे की ओर दौड़ गईं। जब लौटीं तब उनके हाथ में कलई से चमचमाते कप सॉसर थे।

मैं सुबह उठ कर पीता था एक सेर दूध। उस दिन तक कभी चाय न पी थी सो वह भी कैसे जानता कि चाय पीने का भी विशेष शिक्षण लेना पड़ता है। मैं नौ-सिखिया जीवन में पहली बार चाय पी रहा था सो भूलें करना अनिवार्य था। फूँक मार-मार कर चाय को ठण्डा करने लगा, फिर 'सुड़क-सुड़क' करते दूध की तरह दो घूँट में प्याला भर चाय पीकर खाली प्याले को मेज़ पर रख दिया। "एक कप और लीजिये।" कह-कहकर पूरे पाँच प्याले चाय मुझे पिला दी गई। अन्त में सिर झुकाए मैंने कहा—

"बस जी! अब नहीं चाहिए।"

"ज़रा ठहर जाइए! अभी और बन जाती है।" कह कर दबी हँसी हँसती कनक भाग गई। मैं चुपचाप वहाँ से उठ आया।

आत्मग्लानि के भाव से ग्रस्त मैं धीरे-धीरे सड़क पर चला जा रहा था। सड़क पर चलने वाले प्रायः एक-दूसरे की ओर देखते हैं। सो उनमें से कुछ लोगों ने मुझे भी देखा और मुझे लगा जैसे सब कुछ मुझे 'मूर्ख', 'असभ्य' समझ कर ही देख रहे हैं। लगा जैसे सारा संसार मेरी

मूर्खताओं पर दबी हँसी हँस रहा है।

तीसरे दिन भाईजी लौट आए उसी दिन शाम को होस्टल के ऑफिस में बुला कर कहा—"बेटा अनूप! कनक की माँ तुम्हारी बड़ी प्रशंसा कर रही थी। कहलाया है कभी-कभी घर हो आया करो। अब जा सकते हो। यही कहने को बुलाया था।"

मैं सिर झुकाए चला आया। मन ही मन कुढ़ने लगा।

मैं सोच रहा था—उन लोगों ने मेरी मूर्खताओं की सारी बातें भाईजी से भी कह दी हैं। कह दो, मेरा क्या है।

मैंने निश्चय किया—अब कभी मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। मुझे मूर्ख बनाती हैं। मैं कुढ़ता हूँ और वे हँसती हैं।

तभी याद आया वह काँपता आर्द्र कंठ—"तुम बिन जियत बहुत दिन बीते!" और वे घनीं काली पलकें।

१३

उस दिन एम. डी. हाई स्कूल से हॉकी का मैच था। पिछले पांच वर्षों में कभी भी हमारा 'एम. डी. हाई स्कूल' हॉकी के मैच में न जीता था। उस दिन 'प्रान्तीय वार्षिक हॉकी टूर्नामेंट का' फाइनल था। उस मैच को जीतने की हमें कोई आशा न थी।

रेफरी की सीटी के साथ मैच प्रारम्भ हुआ। तभी मैंने देखा भाईजी की कुर्सी के पास ही एक कुर्सी पर हलकी केसरिया साड़ी पहने कनक भी बैठी है। उन्होंने आज बंगाली ढंग का जूड़ा बांधा था और उसमें सफेद फूलों का एक गुच्छा भी लगाया गया था यह भी मेरी आंखों ने देख ही लिया। मैं खेल रहा था और मन ही मन सोच रहा था—घने पलकों वाली वे दो आँखें भी मुझे कहीं से देख रही हैं।

आधा खेल समाप्त हुआ। अब तक एक भी टीम गोल न बना सकी थी। उस एम. डी. स्कूल की टीम से आधा समय तक बराबर खेलना हमारे लिये गौरव की बात थी यह दर्शक भी समझते थे और हम खिलाड़ी भी।

हम लोग सगर्व पसीने में लथपथ हॉकी थामे लेमन की बोतलों की ओर दौड़े आए। तभी मैंने देखा भाईजी वहीं खड़े हैं और पास खड़ी थीं वे विशालाक्षी। उन्हें जो देखा सो एकटक देखता ही रह गया। उस पीले स्निग्ध माथे पर एक छोटा सिंदूरी टीका भी संभाल कर लगाया

था। उस टीके के कारण वे अति सुन्दरी दिख रही थीं।
उन्होंने अपने कांपते स्वर में कहा—
"पिताजी ! क्या हम लोग जीत ही नहीं सकते ?"
"जीत क्यों नहीं सकते ? जीत भी सकते हैं !"
"कहीं हम लोग जीत पाते!" दबे कंठ से कह कर वे चुप हो गईं।
रेफ्री ने सीटी बजाई और हम खिलाड़ी खेल के मैदान में आ कर जम गए। सीटी के साथ खेल फिर आरम्भ हुआ। गेंद मेरी हॉकी पर नाच रही थी और लग रहा था जैसे कोई कह रहा है—"कहीं हम लोग जीत पाते ! जीत पाते ! जीत पाते ! कहीं हम लोग जीत पाते !!!"

मुझे लग रहा था जैसे उस मैदान के चारों ओर कोई भी नहीं है। सब कुछ शून्य है ! नीरव !! मात्र वे हैं और उनका वह कम्पित स्वर—
"जीत पाते ! कहीं हम लोग जीत पाते !!"

उस दिन की घटना मेरे अन्तःस्थल में एक अकल्पनीय आश्चर्य और अपूर्व चमत्कार के रूप में अमिट-सी बन कर रह गई है।

खेल समाप्त होने में पाँच मिनिट शेष होंगे। विगत पाँच वर्षों मे जो टीम आधा-आधा दर्जन गोलों से हराती आ रही थी सो वही प्रांत की विजेता टीम हमारे गोल पर आ कर छा गई। उन्होंने लगातार चा[r] कॉरनर लिये थे। सेन्टर फॉरवर्ड मुहम्मद और लेफ्टइन करीम के लग[ा]तार चार तगड़े शॉट अपनी छाती और टांगों पर रोक कर मैं उस दि[न] का 'हीरो' बन गया था।

"अनूप ! अनूप !! एक्सलेण्ट अनूप ! वेरी फाइन अनूप !!"

शून्य आकाश भर-सा उठा और मेरे कानों में गूंज रहा था कम्पित स्वर "जीत पाते ! कहीं हम लोग जीत पाते !!"

जब वह गर्वीली टीम हमारी 'डी' पर ... थी तभी वह उ... गेंद मुझे मिली और ... । कम्पित स्... पड़ा—"... अकेले ही अनूप !! ...

लगा जैसे सारा शरीर सहस्र विद्युत धाराओं से छू-छू कर झनझना उठा है।

मैं विक्षिप्ति की भाँति उस सफेद छोटी गेंद को अपनी हॉकी से नचाता अकेले ही भागा जा रहा था। एक-एक करके कितने विपक्षी खिलाड़ी मुझे रोकने के लिये सामने आये और कैसे मैं उन सबसे बचता बचाता विपक्षी टीम की 'डी' में जा पहुँचा सो तो मुझे याद नहीं किन्तु इतना आज भी याद है कि वह विपक्षी गोलकीपर पानी से बाहर निकाली गई मछली की भाँति इधर से उधर तड़प रहा था।

तभी बेला के खिंचे कम्पित स्वर सरीखा किसी का कंठ स्वर मेरे कानों में गूँज उठा—"गोल! अनूप गोल !!"

मुझे पता नहीं कब मेरी हाकी उठी और कब वह गेंद 'सटाक्' से उस गोल के तख्ते से जा टकराई।

लगा जैसे शतशत कण्ठों से "अनूप! अनूप !!" ध्वनित हो होकर आकाश में बिखरने लगा। तभी गोल की सीटी के बाद रेफरी की लम्बी सीटी बजी और खेल समाप्त हो गया। लगता है जैसे उस खेल की 'समाप्ति' ही मेरी जीवनलीला का 'प्रारम्भ' था।

सोचता हूँ विश्व के जितने भी महायुद्ध जीते गये उन सबके पीछे कोई न कोई प्रेरक शक्ति रही होगी। स्यात् कुरुक्षेत्र की विजय का श्रेय पांडवों को न मिलकर द्रौपदी को ही मिलना चाहिये।

मैं तो समझता हूँ इस भूतल पर आज तक जितने भी युद्ध लड़कर जीते गये वे सारे युद्ध विजेताओं ने अपनी-अपनी तलवारों की चमचमाहट में अपनी किन्हीं प्रेरक शक्तियों की झाँकी देख-देखकर ही लड़े होंगे।

उस दिन कौन मेरी 'प्रेरक शक्ति' थी, किसकी शक्ति और प्रेरणा के सहारे मैंने वह 'गोल' बनाकर मैच जीता था यह रहस्य मेरे और मेरे उस अन्तर्यामी के अतिरिक्त कोई भी न जान सका था।

कहते हैं सुख-दुख, आनन्द-विषाद धूप-छाया की भाँति साथ-साथ रहते हैं, सो मेरे साथ भी उस दिन यही हुआ। मुझे कंधों पर ४५

स्कूल के लड़के चीखते पुकारते चले आ रहे ते। उधर से स्कूल मैनेजर की गाड़ी आ रही थी। मैं साथियों के कंधों पर बैठा खुशी में विक्षिप्त-सा अपनी उस विजयिनी प्रिय हॉकी को घुमा रहा था।

किसी लड़के ने आनन्दातिरेक में मैनेजर की उस काली मोटर पर हॉकी का प्रहार किया। उस भीड़ में यह प्रहार किसने किया था सो कोई भी न जान सका और अपराधी मुझे ठहराया गया।

दूसरे दिन प्रार्थना के बाद मेरी पिछली विजय का पुरस्कार मिला 'दो बैंतों का दण्ड' मेरे हाथ मेज पर रक्खे गये। तभी समूचा विद्यार्थी समाज मेरे प्रति सहानुभूति दिखाता बोल उठा—शेम ! शेम !! शर्म ! शर्म !!

विदेशी सरकार के एजेन्ट, मैनेजर के पिट्ठू उस लम्बे तगड़े प्रधानाध्यापक ने मुझ निरपराधी के हाथों पर तड़ापड़ दो बेंत मारे।

मुझे लगा जैसे वे बेंत मेरे हाथों पर न लगकर जा लगे थे मेरे अन्तस्थल में। ऐसा घाव हुआ कि जिसका दर्द आज भी हो उठता है। वह अपमान की चोट मैं कभी भी न भुला सका।

पता नहीं कैसा था वह बेंत और कैसी थी उस प्रधानाध्यापक के शरीर में अतुल शक्ति ; दोनों ने मिलकर मेरी चमड़ी तक छील डाली। एक हथेली में खून छलछला आया और दूसरी से छलछल रक्त बहने लगा था।

मेरी हथेली का खून देखकर वह विद्यार्थी समाज प्रतिहिंसा से पागल हो गया। उन प्रधानाध्यापक को घेरकर आक्रामक-सा हो उठा था। तब सामने आये वे दुबले-पतले भाईजी।

भाईजी ने कड़कते स्वर में कहा—"ठहरो मेरे बच्चो ! जो कुछ हो चुका है उसी से हमारा सिर शर्म से झुक जाता है और अब जो होने जा रहा है उससे बड़ी शर्म हम और हमारे स्कूल के लिए और क्या हो सकती है ?"

तभी मैंने अपमान की चोट से सिसकते हुये कहा—"जब एक शर्म

की बात हो रही थी तब आप कहाँ थे ? दूसरी बड़ी शर्म की बात भी हो जाने दीजिये न।"

सुनकर भाईजी की आँखें छलछला आईं। वे तिलमिला कर चीख उठे—

"अनूप !"

मुझे लगा जैसे वह स्वर वेतन भोगी, घर-घर जाकर ट्यूशन करने वाले मास्टर का स्वर नहीं है। उस स्वर में बोल रहा था गुरुकुल के महान् गुरु का 'आदेश'! प्यार भरा आक्रोश !! मैं सब विद्यार्थियों को वहाँ से लेकर चला आया लेकिन कोई भी विद्यार्थी कक्षा में नहीं गया। सारे दिन स्कूल में हड़ताल रही थी। शाम को एक विद्यार्थी ने आकर बताया कि हैडमास्टर ने भाईजी से कहा है, "इस सब की जड़ भाईजी आप हैं।"

उसी दिन रात के आठ बजे भाईजी द्वारा लिखी कागज की चिट मिली जिसमें लिखा था—"अभी चले आओ। कनक की माँ बहुत दुखी हो रही है।" मैं सीधा उठकर घर जा पहुँचा।

लड़के सोच रहे थे—भाईजी के अपमान का बदला लिया जायेगा। बदला ! बदला !! वहाँ जाकर देखा भाईजी सिर झुकाये कोने में एक कुर्सी पर बैठे कुछ लिख रहे थे। लग रहा था जैसे वे बहुत बेचैन हैं। तभी वे ममतामयी माँ डबडबाई आँखों से देखती हुई बोली—"देखूँ तो बेटा ! कैसी चोट आई है।"

मैंने कोट की जेब में छिपी हथेलियों को बाहर निकाला। हथेलियों को अपने काँपते हाथों में लेकर वे रो पड़ी। उनके होंठ काँपने लगे। तब लम्बी उसाँस लेकर बोली—

"कैसा मारा है सत्यानाशी ने !" और मैं सोच रहा था—वे कहाँ है ? कहाँ गईं ? क्या इलाहाबाद चली गईं ? कब चली गईं ? क्यों चली गईं ? लगा जैसे मैं खेल समाप्ति के बाद साथियों के कंधों पर बैठा जा रहा हूँ और वे उस हल्की केसरिया साड़ी में लिपटी मा[illegible]

उन विमुग्ध आंखों से निर्निमेष हो मेरी ओर ...

पुकारा—

"कनक ! ओ विटिया !! आना तो।" तभी पास वाले कमरे मे

...-धीरे वे आईं। उनकी सूजी लाल आँखों को देखकर कोई भी सहज

में समझ सकता था कि वे रोई हैं और वहुत वार रोई हैं।

उन्होंने अपने घने झपकते पलकों को उठाकर मेरी हथेलियों की

...र देखा। देखते-देखते वह पीला चेहरा सफेद पड़ गया।

माँ ने कहा—"विटिया ! मरहम में सिंदूर डालकर पट्टी तो बना

...ला। पता नहीं क्यों तभी भाईजी कमरे से उठकर बाहर चले गये।

माँ वोली—"कहाँ जा रहे हो अभी। सुनो तो।" भाईजी बिना

जवाब दिये ही चले गये।

सोचने लगा—क्या हुआ ? कहाँ जा रहे हैं ? क्यों जा रहे हैं ? माँ

मुझे कुर्सी पर बिठाकर उन्हीं के पीछे उन्हें रोकती घर के द्वार की

ओर चली गई।

तभी वे आईं हाथ में मरहम की पट्टी लिए। माँ को वहाँ न देखकर

पहले कुछ झिझकीं फिर पास आकर कांपते रुँधे कण्ठ से बोलीं—

"वहुत दर्द हो रहा है ?"

"........।" मैं चुप रहा।

"चुपचाप क्यों सह लिया ऐसा अत्याचार ?"

"........।" मैं ने वोलना चाहा पर वोल न सका।

"ऐसे अत्याचार सहना तो बढ़ावा देना है।" स्वर में रोष

भरा था।

"........।" कुछ कहने के लिए छटपटा-सा उठा पर वोल नहीं सका

"मैं होती तो......।" कहते-कहते वे कुछ रुक गईं और चुपच...

मेरी हथेली पर पट्टी बांधने लगीं। 'टप्-टप्' आँसू की कुछ बूंदें ...

हथेली पर आ गिरीं। तभी माँ घबराती-सी लौटीं।

माँ कुर्सी पर लम्बी साँस छोड़ती आ बैठी और उलाहना-सा ...

बोली—"तब तो चुपचाप खड़े सब देखते रहे और अब पागल बने फिरते हैं। भगवान् जाने कहाँ चले गये ?"

माँ के आते ही वे इस प्रकार घूमकर खड़ी हो गई थी जिससे माँ न जान सके कि उनकी बिटिया की आँखों को क्या हो गया है। हथेलियों में पट्टी बाँधकर वे वहाँ से चली गई और मैं माँ से विदा माँगकर होस्टल चला गया।

होस्टल में आकर देखा होस्टल के कुछ कमरे सत्याग्रह कमेटी के कार्यालय से बन गये हैं। सब जगह चर्चा थी—भाईजी ने त्याग-पत्र दे दिया है ! त्याग-पत्र ! भाईजी का त्याग-पत्र !!

मेरे पहुँचते ही सब लोग मुझे घेर कर खड़े हो गये। उन्हीं दिनों बापू का चलाया आन्दोलन चल रहा था। हड़तालें, विदेशी कपड़ों की दूकान पर धरना; आये दिन की बातें थीं। कभी-कभी वह सब तमाशा समझकर देख लेता था। क्यों होती हैं ये हड़तालें ? और दूकान के सामने लेटकर ग्राहकों को अपनी छाती पर चलाने का क्या महत्व है सो मैं कुछ भी न जानता था।

एक 'हड़ताल' के शस्त्र को ही मैं समझ पाया था। सो मैंने साथियों से कहा—"जब तक हमारा 'हैडमास्टर' भाईजी से क्षमा नहीं माँगेगा तब तक कोई भी लड़का स्कूल न जायेगा। हम झुकेंगे नहीं चाहे महीनों तक हमारी हड़ताल चले।" इस निश्चय के साथ लड़के बिखर गए और अपने-अपने कमरों में चले गये।

मैं चुपचाप कमरे में आकर लेट गया। सोचने लगा—भाईजी के त्याग-पत्र की खबर माँ सुनेंगी फिर वे भी ! वे जो रोई थी। फिर वे चिन्ता में जागती रहेंगी। रोएँगी, दुखी होंगी।"

सोचते-सोचते मेरे अन्दर न जाने ऐसा क्या जागा कि मैं चारपाई से उठकर खड़ा हो गया।

मैंने निश्चय किया—इसका निर्णय अभी होगा ! अभी !!

अपनी उस विजयिनी प्रिय हॉकी को उठाकर हैडमास्टर

ओर दौड़ पड़ा। होस्टल से लगभग एक मील दूर वह ... हेडमास्टर को मैंने
वह दृश्य मैं आज भी नहीं भूला हूं। सोते हुये हेडमास्टर को गेन...
...गाया था। नीरव रात ! हाथ में हॉकी लिये अपने कमरे में मुझे देख
...ह थर-थर कांपने लगा था। पता नहीं उस समय मेरे चेहरे पर ऐसा
...क्या था जिसे देखकर वह लम्बे-चौड़े शरीर वाला मानव भेड़ की भांति
मिमियाने लगा। मैंने उससे भाईजी के लिये क्षमा-पत्र लिखने के लिये
कहा था।

वह कांपते हाथों से क्षमा-पत्र लिख रहा था और मुझे लग रहा था
जैसे कोई कांपता हुआ कंठ कह रहा है—"चुपचाप क्यों सहा ऐसा
अत्याचार ? मैं होती तो—क्यों सहा ? ऐसा अत्याचार !—मैं—होती तो—
मैं—होती—तो !"

तभी जैसे मेरा अन्तर्यामी बोल उठा—तो देखो मैं भी कम नहीं
हूं। अब, अब तो ठीक है। अब तो है तुम्हें सन्तोष ? बोलो ! अब ?

तभी हेडमास्टर ने वह क्षमा-पत्र हाथ में थमाकर कहा—"लो यह।
लो बस।"

मैं हांफता-हांफता भाईजी के पास पहुंचा। वह पत्र पढ़कर भाईजी
ने पूछा उस क्षमा-पत्र की पृष्ठभूमि और उसे सुनकर जैसे उनका समस्...
मुंह काला पड़ गया।

उन्होंने टूटे स्वर में कहा— "बेटा—यह—हिंसा—की—जीत-...
है। क्या होता है इससे ?" उनका उत्तर सुनकर मेरा दिल टूट-सा गय...

मुझे आज भी याद है कि तभी कैसे कनक ने दुर्गा का रूप ध...
करके तमतमाते चेहरे से कहा था— 'हमें विजय चाहिए फिर वह
कैसे भी मिले ! हिंसा हो या अहिंसा यह हम नहीं जानते। हां...
अभिमानी का दम्भ चूर-चूरकर देना था सो हो गया पिताजी ...
हमें कुछ नहीं चाहिये ! कुछ नहीं चाहिये !! कहते-कहते उसका
मुंह पड़ गया था।

कैसी चमक रहीं थीं वे आंखें ! सोचने लगा—यही हैं वे

जो थोड़ी देर पहिले रो रही थी ? जिनमें कल मेल के बाद ऐसी लाज भरी थी कि मुझे पलक उठाकर देख भी न पाती थी।

मैंने देखा—वे काँपती-सी वहाँ से चली गईं। सोचने लगा—एक शरीर में कैसे हैं ऐसे दो रूप ?

तभी पिताजी के मुख से सुना एक पद गुन-गुना उठा—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" फिर इतना याद है कि भाईजी ने अपना त्याग-पत्र वापस नहीं लिया था और सपरिवार उस शहर को छोड़कर कहीं चले गये थे।

१८

वर्षों तक उस वज्र जैसी कठोर और कुसुम जैसी कोमल लड़की के सम्बन्ध में कुछ भी न जान सका; किंतु इन वर्षों में मैं उसे किसी भी तरह एक दिन के लिए भी न भूल सका।

बी० ए० की परीक्षा देकर जब घर लौटा तो लगा जैसे सब कुछ समाप्त हो गया है। करने को कुछ भी नहीं रहा है। सामने अन्धकार है। दिन भर चौपाल में अकर्मण्य-सा पड़ा सोता रहता और रात भर गंगाजी के किनारे विक्षिप्त-सा घूमता था।

पता नहीं क्यों मनुष्य मात्र से मुझे घृणा-सी हो गई थी। और गाँव के लोगों ने मेरा नाम रख लिया—'चमगीदड़' सो पता चला तब जब एक दिन चौपाल के किवाड़ पर लिखा पढ़ा—'इस चौपाल में चमगीदड़ रहता है।'

वह पढ़कर उस किवाड़ पर इतने मुक्के मारे कि चार-पाँच दिन तक उँगली सीधी न कर पाया था। सीधे हाथ से रोटी का टुकड़ा भी न तोड़ पाता था। सो बाँये हाथ से ग्रास तोड़-तोड़कर चौके में बैठा भोजन कर रहा था तभी देखा—कोई महिला आ रही है और मैं हाथ का ग्रास फेंककर दौड़ पड़ा। उनके पैर छू कर खाट बिछाई।

कितने वर्षों बाद अपनी उन बुआजी को देखा था जिनसे लिपट कर किसी दिन रोया था, जिनके लिये खिरनी तोड़ते-तोड़ते अपनी बाँह तोड़ ली थी, जिनसे मिलने के लिये मीलों रातों-रात दौड़ा-दौड़ा गया था, जिन[illegible] महीनों तक चाँद और तारों में देखी थी, जिनकी याद

करके कितनी बार रोया था। सो उस दिन वे अचानक ही आ गई थीं।

उन्हें अचानक देखकर कैसे-कैसे भाव मन में आये सो तो आज याद नहीं है पर एक बात आज भी याद है कि एक साथ हँसने और रोने की अनुभूति मुझे उसी दिन उन्हीं क्षणों में प्राप्त हुई थी। उन्हें देख-देखकर मैं हंस-सा पड़ता था और कभी आँखें छल-छला आती थीं।

बुआजी के आने की खबर अड़ोस-पड़ोस में भी फैल गई तो गाँव की रीति के अनुसार वहाँ औरतों बच्चों का मेला-सा लग गया। मैं किसी भी प्रकार उस मेले में रस न ले सका सो उठकर चौपाल में आ लेटा।

लेटे-लेटे मैंने देखा—चौपाल की सारी खिड़कियाँ बन्द हैं। द्वार बन्द है। सोचने लगा—क्यों बन्द हैं ये खिड़कियाँ? क्यों बन्द हैं ये किवाड़? क्या ये पन्द्रह बीस दिन से इसी प्रकार बन्द है ? इस बन्द कमरे में कैसे, क्यों मैंने इतने दिन लेटे-लेटे बिताये हैं ?

मनोविज्ञान पर कुछ किताबें पढ़ी थीं सो अपने उसी अधूरे ज्ञान के आधार पर समझ पाया कि अपनी 'पालायन वृत्ति' से आज भी निवृत्ति नहीं पा सका हूँ। घर से नहीं भागा तो ये खिड़कियाँ और द्वार बन्द करके ही मेरा अन्तर्मन संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहता है। सो क्यों है ऐसा ? क्यों ? क्यों ?

मुझे याद आने लगे वे बचपन के दिन ? पिताजी द्वारा की गई डाँट-फटकार, मास्टरों द्वारा की गई पिटाई, कान खिंचाई, फिर वह लम्बा तगड़ा विशालकाय हेडमास्टर ! साड़-साड़ दो बेंत ! फिर जाने कितने व्यक्तियों द्वारा दिया गया धोखा, अविश्वास, शोषण, स्वार्थ-प्रपंच !

और लगा जैसे मेरे अन्तस्थल में बैठा कोई कहने लगा—वर्षों से जैसे कहता आया है—तेरे लिये नहीं है यह संसार ! तू न रह सकेगा ऐसी दुनिया में ! मर-मर !! डूब मर गया मे !!

तभी लगा चौपाल के उस अन्धकार मे मौनी बाबा का वह मंगलमय दीप्तिपूर्ण चेहरा चमक उठा है। मौनी बाबा कह रहे थे "उठ! उठ!! यह जीवन से पलायन है ! उठ ! उठ !! तू जीवन से संघर्ष कर ! —— !!

विजयी बन !

मन में बैठा कोई कह उठा—किन्तु कैसे ? कहां है मेरी शक्ति—प्रेरणा !!

याद आई बुआजी की गोद ! जिस में सिर रखकर टूटी बांह की यातना सही थी। याद आये कनक के वे आंसू, जो बेंतों से चोट खाई हथेलियों पर मरहम-पट्टी बांधते समय टप-टप करके झर पड़े थे।

लगा जैसे वह कहीं पुकार उठी है—अनूप ! आगे बढ़ो !! अकेले ! अकेले !! फिर खटाक् ! गेंद तख्ते में जा लगी ! गोल !! सीटी विजय !! विजय !! विजय विजयी !!

मैं पागल-सा हो उठा। उठकर उस चौपाल की सारी खिड़कियां और द्वार खटापट खोल डाले !

चौपाल की पश्चिम दिशा में तीन बड़ी खिड़कियां थीं। उन्हें खोलते ही लगा जैसे पश्चिम में कहीं दूर किसी गांव में आग लग गई है। तब पश्चिम में उस डूबते भगवान् भास्कर को माथा टेककर मैंने प्रणाम किया।

पता नहीं क्यों उस दिन वह पूजा का भाव मन में उमड़ पड़ा कुछ देर सिर झुकाये खड़ा ही रहा। तब मुझे ध्यान आया कि बुआजी आ गई हैं। संध्या हो गई है ! और मैं दोपहर से इसी चौपाल में सदा की भान्ति बन्द हूं, गांव के उस 'चमगीदड़' को अब रात के अंधियारे में इस चौपाल को छोड़ देना चाहिये।

तभी छोटी बहिन शन्तो का कण्ठस्वर सुनाई पड़ा। कह रही थी—"भय्या ! बुआ बुला रही हैं।"

सोचने लगा—आज क्या यह बुआ के प्रति ही श्रद्धा, पूजा का भाव उमड़ रहा है ! जिसने उस अस्ताचल को प्रस्थान करते अंशुमाली के सामने बरबस ही माथा झुकाने के लिये विवश कर डाला था। तभी मन में कुछ भय, कुछ खलबली-सी होने लगी।

मैं घर की ओर पैर बढ़ाये जा रहा था—शन्तो उन मिठाइयों के

नाम गिनाये जा रही थी जो बुआ अपने साथ लाई थीं। साथ ही मैं अपनी कल्पित शिकायतों को गिने जा रहा था जो मां ने मेरे विरुद्ध उनसे की होंगी।

संध्या के उस झुरमुट में चुपके से आँगन में पड़ी चारपाई पर बैठ गया। बुआ दान में से फूंस खींचकर दीया जला रही थीं। दीया जलाकर मेरे पास आ बैठीं। माँ रसोईघर में रोटी बना रही थीं। शन्तो पड़ोस में बुआ की उन मिठाइयों के नामों की ऊँचे कंठ से आवृत्तियां कर रही थीं। तभी वे बोलीं—

"कैसे हो मनूप ?"

"ठीक हूँ !"

"मेरी कभी याद की थी ?"

सुनकर आँखें छलछला आईं। मन में यह भी विचार आया कि इतना बड़ा हो गया हूँ सो जैसे मेरा पौरुष जाग उठा। आँखों के छलछलाते उन आँसुओं को मैं पी गया। कुछ खाँसता-सा बोला—

"हाँ की थी बुआ।"

"सच !"

"सच नहीं तो क्या ?"

"नाराज हो !"

"मैं क्यों किसी से नाराज हूंगा।"

"मैं 'किसी' हूँ ?"

"और नहीं तो क्या !"

तभी उन्होंने मेरा हाथ उठाकर अपने हाथ में ले लिया।

मुझे लगा जैसे मेरी वह बांह बुआ के आँसुओं से गीली हो उठी है। कुछ देर तक हम दोनों चुपचाप बैठे रहे इसी प्रकार वर्षों की रुद्ध व्यथा आँसुओं में बहा-बहाकर मन हल्का करने का असफल प्रयास करते रहे।

मैं नहीं जानता उस समय हमारी वे बुआ क्या-क्या सोच रही थीं— किन्तु मैं सोच रहा था केवल एक बात, मेरे मन में थी मात्र एक :

पा। मन कह रहा था कि अपनी उन बुआ की गोद में
नके गले में बाहें डालकर जी भरकर रोलूं।

तभी माँ ने पुकारा "बिटिया !"

"आई भाभी !" रुंधे कंठ से कहकर वे वहाँ से चली गईं। मैंने उस हाथ को जिसे पकड़े वे बैठीं थीं, अपनी आँखों और माथे पर रख-रखकर ज़ोर-ज़ोर से दबाया। लगा, जैसे भरा हुआ मन कुछ हल्का-सा हो उठा है।

बुआ ने मेरी थाली परोसी और मैं लकड़ी के पट्टे पर जा बैठा। दाएं हाथ की अँगुलियां अब भी सीधी नहीं हो रही थीं सो बाएं हाथ से रोटी तोड़-तोड़ कर ग्रास खाने लगा।

दीपक का प्रकाश सीधा बुआ के मुंह पर पड़ रहा था। मैंने देखा हंसी के मारे उनका मुंह खिल उठा है। हँसते-हँसते बोलीं—

"भाभी ! अनूप ने यह नया लच्छन कब सीखा ?"

"क्या बिटिया ?"

"बाएं हाथ से खाने का।"

"न जाने क्या-क्या सीखा है।" कहकर वे चुप हो गईं। जानता कि जब से मैं गांव आया हूं तभी से वे मुझ से असन्तुष्ट हैं। उन
कल्पना थी मैं गांव आकर घरबार देखूंगा। उनकी सुख-दुख की
सुनूंगा। भविष्य के सुनहले सपने बना-बनाकर उन्हें सुनाऊंगा।
रुपये कमाने का ढाढ़स बंधाऊंगा; किन्तु हुआ यह कि मैं चौपा
'चमगीदड़' बन गया— अकर्मण्य ! आवारा !! निरर्थक, अप्रयोज

माँ चौके में बैठी थीं। बीच में ओट थी। सो हम माँ-बेटे ए
को देख न पाते थे। बुआजी माँ की ओर देख रही थीं। उ
देखते बुआ का मुंह काला-सा पड़ने लगा। फिर हम तीनों
भी न बोल सका। मैं चुपचाप खा-पीकर आँगन में कुल्ला क
तभी चौके से आता कंठस्वर सुनाई पड़ा—

"तुम्हीं समझाओ बिटिया ! किसी की नहीं सुनता।

मैं तो अब इस जिन्दगी से ऊब गई हूँ। दिन-रात भगवान् से यही मनाती हूँ कि अब मेरी मिट्टी समेट………।" अधिक मैं नहीं सुन सका। उठकर बाहर आया और सीधा गंगाजी की ओर विक्षिप्त-सा भाग चला। लग रहा था जैसे सारा शरीर जल रहा है। उबकाई-सी आ रहीं थीं।

मैं गंगा के किनारे पड़ा उस ठंडी रेती को मुट्ठी में बाँध-बाँधकर छोड़ने लगा।

आकाश के असंख्य तारे टिमटिमा कर मुझ पर हँस रहे थे। हंस-हंसकर कह रहे थे—मूर्ख ! अकर्मण्य !! स्वार्थी ! तेरी माँ जीवन से ऊब गई। तेरे कारण वह मिट जाना चाहती है। मर ! डूब मर !! डूब मर !! इसी गंगा में ! मर ! मर !! डूब मर !!

मैं उठकर धार में बढ़ने लगा—

तभी लगा जैसे मौनी बाबा गंगा के उस कल-कल स्वर में बोल उठे हैं—"बेटा ! यही है जीवन से पलायन ! जीवन से युद्ध कर ! संघर्ष कर !! विजयी बन—विजय-विजयी—विजय ! विजयी !"

तभी कहीं कनक बोल उठी—"गोल ! अनूप गोल !! सटाक्—और मैं लौट पड़ा। गीले कपड़े पहिने घर लौट आया। बुआजी घर की चौखट पर बैठी थीं। मुझे देखते ही आक्रोश भरे स्वर में बोल पड़ीं—

"अनूप ! इतनी रात बीते कहाँ गये थे ?"

"……………"मैं चुप था।

"बताओ न ! अनूप !!"

"………।" मैं चुपचाप खड़ा था। कपड़ों से पानी की बूँदें टप-टप करके चौखट पर गिर रही थीं। तभी वे क्रुद्ध और करुणा भरे स्वर में बोलीं—

"तुम्हें हो क्या गया है अनूप ! अरे कपड़े कहाँ से भिगो लाये ? चलो कपड़े बदलो" और छोटे बालक की भाँति हाथ पकड़े मुझे घर के अन्दर घसीट ले गईं।

—

कितना अच्छा लगता था उस प्रकार का घिसटना ! माँ चुपचाप छान के नीचे खड़ी देख रही थीं अपनी बिटिया का अधिकार ! शासन ! नियंत्रण !!

माँ आंचल से मुंह दबाये खड़ी थीं। उससे सहज ही मैंने अनुमान लगा लिया कि उनकी यह अतिशय प्रसन्नता हँसी में फूट पड़ना चाहती है। वह सोच रही होगी कि अनियंत्रित पशु आज अनुभवी मास्टर के हाथ में पड़ गया है। वे खड़ी थीं और खड़ी-खड़ी हँस रही थीं। आंचल से मुंह दबा लिया था। उनके हँसने का स्वर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था।

कितने दिनों बाद माँ को उस तरह हँसते देखा था। माँ हँस रही थी और मैं बुआ द्वारा दिये गये सूखे धोती कुरते और तौलिये को लेकर बाहर चला आया।

घर के पास ही शिवजी का मंदिर है। मंदिर पर कुंआ है। मैंने गीले कपड़े उसी मन्दिर वाले कुंये पर छोड़ दिये और रोज की भांति पिछवाड़े की सीढ़ियों से चढ़कर छत पर सोने के लिये चला गया।

पिताजी व्यापार के सिलसिले में परदेश एक शहर से दूसरे शहर घूम रहे थे। घर में थे हम नन्हें बड़े तीन जने माँ, शन्तो और मैं। माँ और शन्तों घर की रखवाली के लिये नीचे सोते थे और मैं सोता था छत पर !

छत पर आकर देखा—मेरी मैली चादर बदल गई है। तकिया का पुराना गिलाफ बदलकर नया गिलाफ चढ़ गया है जिस पर अंग्रेजी में लिखे अक्षर कह रहे थे "Forget me not"

सोचने लगा—तो बुआजी अपने साथ ही इस गिलाफ को लाई हैं ! Forget me not ! Forget me not !!

मैं उस तकिये पर अपने गाल चिपकाकर लेट गया। सारा शरीर जल रहा था सो यह ठंडा तकिया बहुत अच्छा लग रहा था। मुझे नींद-

सी आ रही थी। वह नींद थी या बेहोशी सो मैं नहीं जानता किन्तु आँखें झपक-सी रहीं थीं।

लगा जैसे कहीं दूर ! बहुत दूर कोई कपड़े धो रहा है। पट्ट ! पट्ट ! पट ! पट्ट ! पट ! लगा—बुआ मे·······रे···कपड़े ! अब ? न···ही !

न····ही !!

उस रात नींद उचट गई। सारा कांप-सा रहा था। मैंने आंखें लीं। बुआजी सिरहाने की ओर ट पर बैठी थीं। मैंने देखा मेरे बदन र सफेद चादर की जगह दो काले कम्बल पड़े हैं। और उनका एक ठंडा हाथ मेरे माथे पर है। तब समझ में आया कि मैं बुखार में कांप रहा हूँ और मेरी वे ममतामयी बुआ कम्बल उढ़ाये मेरी परिचर्या के लिए आ बैठी हैं।

चांदनी की वे रुपहली किरणें उनके उस सुन्दर मुख को छू-छू जाती थीं। उस दिन भी उन्होंने सफेद साड़ी और सफेद ब्लाऊज़ ही पहिन रक्खा था। उनके काले लम्बे बाल कंधे पर पड़ी सफेद साड़ी पर बिखरे रहे थे।

वे महाश्वेता बैठी मेरे माथे पर तालबद्ध हलकी-हलकी चाप दे रही थीं। मुझे लगा जैसे वे कोई देवकन्या-सी इस स्वार्थी, प्रपंची भूलोक से उठाकर मुझे अतल गगन में उड़ाये लिये जा रही हैं।

दायें हाथ की अंगुलियां दुख रही थीं, सो धीरे से मैंने बायीं हथे से उस स्निग्ध शीतल हाथ को पकड़ लिया और रुंधे कांपते कंठ बोला—

"बस बुआ !"

"क्यों ?"

"कहाँ तक चुकाऊँगा ?"

"क्या ?"

"यह सब जो कर रही हो ! उसी का बदला !" सुनकर उनका हाथ माथे पर कड़ा होने लगा। मैंने उनके मुख की ओर देखा। वे मुझे एक-टक देख रही थीं। बोलीं—

"इतना पढ़ लिखकर भी अनूप तुम हो मात्र शिशु।"

बुआ के मुँह से इस प्रकार की भाषा और बात कहने की शैली मैं पहिली ही बार सुन रहा था। सोचने लगा—लगता है इस बार बुआ ने अपना अध्ययन आगे बढ़ाया है !

तभी मैं धीरे से बोला—

"एक बात बताओगी बुआ ?"

"क्या ?"

"लगता है इस बार बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं !"

"नही तो।"

"मुझ से ही छिपा रही हैं !"

आश्चर्य से बोलीं—"तुमसे किसने कहा ?"

"किसी ने कहा हो। बात तो सच है। बताइये।"

"……… ….।" वे चुप रही।

"बताइये न। बुआ, बताओ।" वे लम्बी उसाँस लेकर बोलीं—"पहिली बार जब तुम मीलों भागकर मेरे घर आये थे उसके सातवें दिन ही हम सबको छोड़कर माँ भगवान् के पास चली गई। फिर पिताजी को तार देकर बुलाया था। क्रिया-कर्म करके वे अपने साथ मुझे भी इलाहाबाद ले गये। एक मास्टरनी को रखकर मुझे पढ़ाया-लिखाया। प्राइवेट ही एफ. ए. किया है। वहाँ रहते-रहते मन ऊब गया था सो इधर चली आई। कहाँ जाती ? कौन ………।"

हाथ जोर से दबाकर मैं बोला—

"बुआ ! मुझे भी अपना नही समझती ?"

"जो मुझे अपना नहीं समझता उसे मैं क्यों समझूं ?

"सो कैसे जान लिया आपने ?"

"कैसे ?"

"हां कैसे ? कैसे ?"

"इतने वर्षों तक जिसने कोई खोज खबर नहीं ली उसे क्या जानूं ? क्या समझूं ?"

"सो बात नहीं है बुआ !"

"फिर क्या बात है जानूं तो !"

"बस बुआ ! अब तुम जाओ !"

"क्यों ? क्या हुआ ?"

"बस जाओ !"

"बताओ भी तो। हुआ क्या है ?"

जब मन कुछ हल्का हुआ तब मैं विगत वर्षों में जो कुछ घटा था सो सब धीरे-धीरे विस्तार से सुनाने लगा—बेंत की चोट ! फिर परीक्षा और चौपाल का चमगीदड़। किवाड़ पर पड़े मुक्के, दायें हाथ की दुखती अंगुलियां, सब कुछ सुना दिया। कनक की बात मैंने जान-बूझकर छि[illegible] ली थी।

चमगीदड़ की बात सुनकर वे खिलखिला उठीं फिर तुरन्त ही गं[illegible] हो गईं। मेरे हाथ की अंगुलियों को सहलाती-सहलाती कुछ देर बैठी रहीं फिर बोलीं—

"अनूप !"

"जी"

"अब तुम आदमी बन जाओ !"

"आदमी ?"

"हां सच।"

"तो अब तक क्या था ?"

"चमगीदड़।"

सुनकर मुझे भी हँसी आ गई । हम दोनों ही थोड़ी देर हँसते रहे । फिर बहुत देर तक चुपचाप बैठे रहे । मैं अपनी दुनिया मे डूब-सा गया । सोचने लगा—ठीक तो है चमगीदड़ ही तो हूँ—कायर ! अकर्मण्य !! प्रकाश से दूर अंधकार मे पड़ा [redacted] ! कहाँ है मेरा प्रकाश ? कहाँ है मेरी प्रेरक शक्ति ?

लगा जैसे आकाश मे बिखरे उन धवल मेघखण्डों पर मौनी बाबा, बुआ और कनक आ बैठे हैं । तीनों ने मेरी ओर अपने हाथ फैला लिये हैं । तीनों मुझे अपनी ओर बुला रहे हैं । उनकी अंगुलियों से विद्युत-कण निकल-निकल कर 'सत्यं शिवं सुन्दर' के आंक बना-बनाकर बिखर जाते हैं ।

मौनी बाबा की अंगुलियों से निकले विद्युत-कण लिख रहे थे 'सत्यं' और बुआजी तथा कनक की अंगुलियों से प्रस्फुटित वे विद्युत-कण 'शिवं सुन्दर' के चित्र बना-बनाकर मेरी ओर फेंक रहे थे ।

ये तीनों शब्द 'सत्यं शिवं सुन्दरं' मेरी ओर आते थे । आँखों में चकाचौंध सी करके मुझ मे ही समा जाते थे ।

तभी बुआ बोली—

"चलो नीचे चलो ।"

"क्यों ?"

"बुखार बढ गया है ।"

"नही तो !"

"अभी जाने क्या-क्या बड़बड़ा रहे थे ?"

"क्या कह रहा था ?"

"सत्यं शिवं सुन्दरम्,···सत्य शिव ··· ।"

"बुआ !"

"अभी मैंने बहुत सुन्दर सपना देखा था ।"

"जीवन भर सपने ही देखते रहोगे कि कुछ करोगे भी ?"

"बुआ जीवन भी तो सपना ही है । अपने सपने ——
जीवित रहता है और शायद किसी सपने को लेकर ह

"अनूप !"

"जी !"

"अभी तुमने सपना देखा था ?"

"हाँ"

"सुनाओ तो क्या देखा था ?"

मैंने स्वप्न सुना दिया। स्वप्न सुनकर वे चुप बैठी रहीं। तब मैंने उनका वह माथे पर धरा हाथ अपनी आँखों पर रख लिया। फिर दोनों हाथों से उनके पैर पकड़ कर कहा—

"बुआ !"

"हां अनूप !"

"भगवान् करे आज का यह स्वप्न मेरे जीवन का 'पाथेय' बन जाये। इसी के सहारे मैं अपने जीवन का समस्त बीहड़ मार्ग पार कर जाऊँ। आज मुझे लग रहा है जैसे इस इतने बड़े संसार, समूचे ब्रह्माण्ड की रचना के पीछे कोई प्रयोजन है। इसकी रचना में कहीं कोई एक्य है। इस समूचे ब्रह्माण्ड का कण-कण किसी प्रयोजन को लेकर ही है। इन चर-अचर पदार्थों और जीवधारियों की रचना करके उन्हें यूं ही नहीं छोड़ दिया गया है। किसी अदृश्य महान् शक्ति के संकेत पर ही सब कुछ चल रहा है।

आकाश में घटते-बढ़ते चन्द्रमा, उगते-डूबते सूर्य, जगमगाने तारे और नक्षत्रों का भी कुछ नियम है, प्रयोजन है, उद्देश्य है। यह मनुष्य जो इतनी बड़ी शक्ति लेकर जन्मता है सो क्या निरुद्देश्य ही ? निराशा के अंधकार में क्या उसे कहीं से कोई प्रकाश नहीं मिलता ?

क्या उस विश्व नियन्ता ने इसी तरह भटकने रोने-चीखने के लिये ही इस मनुष्य की सृष्टि की है ?

तभी बुआ ने शंकित-सी होकर कहा—

"अनूप ! क्या हुआ है तुम्हें ? चलो नीचे चलो। बुखार बढ़ता जा रहा है।"

"बढ़ने दो ! बढ़ने दो !! लेकिन मेरी बात सुनिये" कहते-कहते उनके पैरों पर माथा रगड़ते हुये बोला—

"बुआ ! जिस प्रकाश के लिये आज तक मैं भागता रहा, दौड़ता रहा, विकल व्यथित रहा सो आज मुझे स्वप्न में मिल गया है। बुआ आशीर्वाद दो मैं अपने इस पाथेय को कभी बिसारूँ नहीं, कभी भूलूं नहीं।

मेरे 'सत्यं' हैं मौनी बाबा। तुम हो—शिवं मेरी मंगलमयी बुआ। और कनक·········क·········न·········क·········सु·········न्द·········रम्·········सु·········न्द·········रम्·········क·········न·········कं। सु·········न्द·········रम्······ ···।" उस बुखार की तेजी में न जाने क्या-क्या बड़-बड़ाता रहा और फिर धीरे-धीरे शान्त हो गया।

आँसू

उस रात अपने स्वप्न की व्याख्या करते-करते मैं अचेत हो गया था। फिर बुआ ने बताया था कि कैसे मैं नीचे कमरे में लाया गया और कैसे अचेतावस्था में क्या-क्या बड़बड़ाता रहा था।

संघर्ष

उस बीमारी में लगभग आठ दिन तक चारपाई से न उठ सका। एक दिन माँ शन्तों के साथ गाँव के एक विवाह समारोह में सम्मिलित होने गई थी और घर में थीं बुआ और मैं।

चारों ओर आग बरस रही थी। ग्रीष्म की दुपहरिया तप रही थी। आँगन में आग की लपटें-सी उठ रही थीं। वे तप्त सूर्य की जलती किरणें पानी की स्वच्छ लहरें-सी बनकर वह उठतीं थीं। उन्हीं को मैं निर्निमे आँखों से देख रहा था। बुआजी पास ही बैठी दायें हाथ से धीरे-धी पंखा झल रही थीं। बायाँ हाथ माथे पर थपथपाती बोलीं—

"अनूप !"

"जी"

"ऐसे उधर क्या देख रहे हो ?"

"मृग-मरीचिका।"

"कहाँ है ?"

"वह देखो उधर आँगन में।"

"वह मरीचिका है—मृग के लिए! पशु के लिये!!

तुम विवेक, बुद्धि के सहित मनुष्य हो। तुम्हें उसमें क्या मिल रहा है?"

"बुआ! यही तो मुझे आश्चर्य होता है। कि हम समस्त विवेक बुद्धि के साथ इसी मरीचिका के पीछे भटक रहे हैं।

बुआ! मुझे सब ओर दानव ही दानव दिख रहे हैं जिनके लिये धन रुपया सम्पत्ति ही मरीचिका बन गई है।

माँ कहती हैं, मैं भी उसी सम्पत्ति की मरीचिका के पीछे दौड़ूँ, गुलामी करूँ। सबकी भाँति मैं भी उसी मरीचिका के पीछे मृग की भाँति भटक-भटक कर मर जाऊँ।

तभी वे आक्रोश भरे स्वर में बोली—

"कैसी बातें कर रहे हो अनूप? तुम क्या इस कुटुम्ब को ही मिटा-कर खड़े रहना चाहते हो? तुम्हारे पिताजी क्यों देश-देश भटक रहे हैं? किसकी ममता, स्नेह, वात्सल्य लिये इस बुढ़ापे में अपना खून पसीना बहा रहे हैं? तुम अपनी अकर्मण्यता को सिद्धान्त और आदर्शों से बाँध कर उसे इतना दृढ़ न कर डालना कि फिर टूटे न टूटे। इतना पढ़ लिख कर,भी·························।" कहते-कहते वे गुलाबी होंठ फड़कने लगे। उनकी आँखें चमक-सी उठी और अचानक ही गम्भीर होकर दूसरी ओर मुँह करके बैठ गईं।

उनके पैरों की ओर हाथ बढ़ाकर मैंने उन पैरों को कसकर पकड़ लिया फिर बोला—

"नाराज हो गई?"

"··········· ············।" वे चुप रही।

"बोलो बुआ! क्या तुम भी मेरी बात न सुनोगी? किसे सुनाऊँगा? एक थीं जिन्हें सुना सकता था

तभी वे बोलीं—"सुनूं तो, कौन थीं वे ?"

"कनक !"

"कनक ?"

"हाँ बुआ कनक ।"

कुछ सोचती-सी बोली—"हाँ, तुमने उस रात बुखार की तेजी में कई बार कनक का नाम लिया था। उनके बारे में कुछ कहा भी था। कहाँ रहती है ?"

"गाँव का नाम तो मैं नहीं जानता ।"

"फिर ?"

"इलाहाबाद में किसी 'वीमन्स होस्टल' में रहती थीं ।"

"उनका कभी पत्र आया ?"

"बुआ ! यह क्यों नहीं पूछा कि मैंने उन्हें कभी पत्र लिखा ?"

"तुम्हें मैं जानती हूँ उन्हें नहीं जानती इसलिये पूछा था ।'

"मुझे क्या जानती हो बुआ ?"

"तुम्हारे इस पुरुष शरीर में बसती है मात्र एक लड़की ।"

"मैं लड़की हूँ ?" कहकर हँसने लगा। वे भी मुस्काती-सी बोलीं—"सच अनूप तुम में भी कहीं लड़की छिपी है। नही तो इतने वर्षों में क्या तुम मुझे एक भी पत्र नहीं लिखते ।"

"क्या लड़कियाँ पत्र नहीं लिखा करतीं ?"

"हाँ, वे पहिले कभी नहीं लिखतीं ! वे चुप रहती हैं और चुपचाप ही सब सहती हैं। पुरुष होता है मुखर। अपने प्रेम की बड़ाई करते-करते थकता नहीं। बोलता है। चीखता है। और लड़की होती है मूक ! शान्त ! नीरव !! कभी उसे कुछ कहना होता है तो आँख उठाकर देखती मात्र है। और जब अपनी व्यथा छिपा नहीं पाती तब विवशता में व्यथा आँखों से झरझर बरस उठती है।-क्यों अनूप कभी वे रोई थीं ?"

"हाँ एक बार रोई थीं।"

"किस बात पर।"

"मेरी हथेलियों की उधड़ी खाल और उनसे बहते खून को देखकर।"

"यह सब अब तक मुझसे क्यों छिपाया ?"

"..............।" मैं चुप रहा।

मुस्कराती-सी बोली—"उस रात सब कुछ सुनाया और यही बात छिपाली। लगता है मेरा 'शिशु' अब बढ़कर 'पुरुष' बन रहा है।"

"लेकिन तुम तो मुझे लड़की बताती हो। तब वे कुछ गम्भीर होकर बोलीं—

"अनूप ! पुरुष मात्र पुरुष नहीं होते और नारी मात्र नारी नहीं होती। नारी कुछ अंशों में पुरुष होती है और पुरुष में नारीत्व भी प्रायः हुआ ही करता है। तुम्हारे इस पुरुष शरीर में कितनी 'नारी' छिपी बैठी सो मैं अच्छी तरह जानती हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर बोलीं—

"अनूप !"

"जी !"

"निरपराध होकर भी तुमने चुपचाप बेंत खाये यह जानकर उन्होंने कुछ भी नहीं कहा ?"

"कहा था।"

"सुनूं तो क्या कहा था ?"

आँखों में आँसू भरकर कहा था—"चुपचाप क्यों सह लिया ऐसा अत्याचार ? मैं होती तो............।" कहते-कहते वे रो पड़ी थीं। फिर मेरी चोट खाई हथेलियों पर टप् टप् आँसू झर उठे थे।"

"बहुत सुन्दर हैं ?"

"हां बुआ !"

"सुन्दरता तो सदा नहीं रहती अनूप ! फिर ?

"सो बात नहीं है बुआ !"

"फिर क्या है मैं भी तो जानूं ?"

"उन्हें मैं जब देखता था तो लगता था जैसे मेरे —— —— ——

वह भर-सा जाता है।"

"यही तो मैं तुम्हें बता रही थी।"

"कौन-सी बात ?"

"यह कि, उनमें 'पौरुष' भी कम नहीं है। वे तुम्हारी 'पूरक ती है, ऐसा मैं निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ।"

"बुआ !"

"हाँ !"

"एक बात बताओगी ?"

"पूछो !"

"बुरा तो नहीं मानोगी ?"

"तुम से, बुरा मानूंगी ?"

"तो पूछूं बुआ ?"

"पूछो।"

"तुम ने जीवन में कभी किसी से प्रेम किया है ?"

"जो जीवित ही मर चुकी है सो किसी से प्रेम करेगी ?" कह कर वे मुस्काने-सी लगीं। उस मुस्कान में कितनी करुणा निहित गहरी व्यथा छिपी थी सो उनके चेहरे पर स्पष्ट अंकित हो उठी। उनके चेहरे पर उस प्रकार का भाव देख कर मैं किसी भी प्रकार आगे कुछ पूछने का साहस न कर सका।

तभी वे बोलीं—

"अनूप ! यह बात तुम ने आज क्यों पूछी ?"

"सोच रहा हूँ 'कनक' के सम्बन्ध में यहाँ बैठे, बिना उनको दे तुम ने सब कुछ कैसे जान लिया ? बिना किसी से प्रेम किए क्या इत सब कोई जान पाता है ?"

"अनूप ! तुम्हारी इस बात का जवाब मैं फिर कभी दूंगी।"

'नहीं बुआ ! तुम्हें मेरी सौगन्ध है !" सौगन्ध की बात सुन लगा जैसे उनका समस्त चेहरा काला पड़ गया है।

बोली—"अनूप ! यह तुमने क्या किया ? तुमने इतनी बड़ी सौगन्ध क्यों खिलाई ?" उनके उस प्रकार के चेहरे को देख कर मैं डर-सा गया। चरणों पर माथा टेके चुपचाप लेटा रहा तभी वे बोलीं—

"अनूप !"

"जी।"

"क्या सोच रहे हो ?"

"कुछ नहीं !"

"तो भी।"

"सोच रहा हूँ क्यों सौगन्ध दिलाई ?" मुझे किसी से कुछ पूछने का अधिकार ही क्या है ? क्यों पूछा मैंने ? क्यों ?

तभी मेरे सिर को अपने हाथों से उठा कर अपनी गोदी में रख लिया और मुझे निर्निमेष आँखों से देखती बोलीं—

"अनूप !"

"जी !"

"केवल एक बात बताऊँगी तो सौगन्ध से छूट जाऊँगी। आगे इस सम्बन्ध में कभी कुछ न पूछना।"

"अच्छा !"

"सुन कर तुम्हें आश्चर्य होगा ! फिर शायद मुझे बहुत बुरा भी समझने लगो—जो बात मैं कभी प्रगट नहीं करना चाहती थी सो आज तुम्हारे सामने प्रगट करनी होगी।"

"तो बताइए न।"

"अनूप ! मैंने भी किसी से प्रेम किया है।"

और मैं उनके हाथों को झकझोरता-सा बोला—"किस से ? बुआ किस से ? बताइए नहीं तो मैं फिर सौगन्ध खिला दूंगा।"

"मुझे अपने अनूप पर विश्वास है।"

"क्या विश्वास है !"

ही कि जो वात उसकी वुआ को बुरी लगती है वह उससे नहीं
ती। ऐसी वात वह नहीं पूछेगा। वह........।" कहते-कहते वुआ
खें छलछला आईं। वोलीं—

"अनूप !"

"जी।"

"तुम ने कनक से मिलने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ?"

"सोचता हूँ—कितने वर्षों की वात है, अब क्या पता उसके मन में
रे लिये वही भाव होगा या नहीं। तव भी था सो भी तो निश्चित रूप
से नहीं कह सकता। अव इतने वर्षों बाद ! क्या पता ! कौन जाने ?"

तभी वे मेरा माथा थपथपाती वोलीं—

"चाहे तुम मुझे भूल जाओ अनूप ! पर एक वात मेरी गाँठ बाँध
लेना भइया !"

"क्या बुआ ?"

"किसी के आँसुओं पर कभी अविश्वास न करना। आँसू साची
प्रीति का सब से बड़ा प्रतीक, सब से बड़ा प्रमाण है।"

"तो वुआ तुम्हारे ये आँसू ?"

".........।" वे चुप रहीं।

"वोलो वुआ !" कहते-कहते मैं चुप हो गया। तभी वे चुपचाप उठ
कर चली गईं। मैं चुपचाप लेटा रहा। जाते समय जिस प्रकार उन्होंने
मुझे देखा था सो आज भी मुझे याद है। कैसी विकलता ! छटपटाहट !!
कैसी विवशता थी उन आँखों में सो फिर कभी किसी की आखों में आज
तक न देख पाया।

"थोड़ी देर बाद वे लौट आईं। उनकी आँखें लाल हो उठी थीं
उन बड़ी काली पुतलियों के पास ही वे गुलावी लाल डोरे बड़े सुन्दर ल
रहे थे। मैं एकटक उन्हें देखने लगा। तभी वे मुस्कराती-सी स्वर
वात्सल्य भर कर वोलीं—

"ऐसे कोई अपनी वुआ को देखता है ?"

"क्यों ?"

"पाप लग जाता है।"

"मेरी गंगा-सी पावन बुआ के पास बेचारा पाप कैसे पहुँच पावेगा ?" कहते-कहते मैंने अपना मुँह उनकी गोदी में छिपा लिया।

कुछ देर हम दोनों चुप बैठे रहे फिर मेरी पीठ थपथपाती बोली—"अनूप ! आज कनक को चिट्ठी लिखो।"

"कहाँ लिखूं ? छुट्टियाँ हैं सो अभी तो वे गाँव में होंगी। गाँव का पता मैं जानता नहीं।"

"वीमेन्स होस्टल इलाहाबाद के पते पर लिख दो। वहाँ से रिडाइ-रेक्ट हो कर उनके गाँव चली जाएगी।"

"मैं कुछ देर चुप रहा फिर 'अच्छा' कह कर करवट बदली और बुआ को देखते-देखते बोला—

"बुआ ! तुम इतनी अच्छी क्यों हो ?"

"फिर वही ! चुप !" कह कर वे चली गईं। कलम, दवात और कागज उठा कर ले आईं। उन्हें एक ओर रख कर बोलीं—

"लो आज लिखो अपनी कनक को जीवन का पहला प्रेम-पत्र।" कहती-कहती वे वहाँ से चलने लगीं। तभी मैंने उनका हाथ पकड़ कर रोकना चाहा। वे हाथ छुड़ाते-छुड़ाते बोलीं—

"प्रेमी बनने चले हो तो इतना तो जान लो कि प्रेम-पत्र एकान्त में लिखा जाता है।" कह कर हँसते-हँसते मुझे अकेला छोड़ कर चली गईं।

व या दानव !

अब तक बहुत कुछ स्वस्थ हो गया था । संध्या समय गंगाजी तक आ जा सकता था । सो उसी दिन गंगा की ओर ही जा रहा था । तभी देखा कुछ लोग इधर-उधर भाग रहे हैं । मेरे पास से ही एक आदमी दौड़ा जा रहा था ।

उसका नाम था, हरदयाल । गाँव वाले उसे 'हरदुआ' कहते थे । मैंने पूछा—क्या है हरदुआ ? वह डरा हुआ बोला—"पुलिस आई है पंडित ।"

"पुलिस ?"

"हाँ पंडित !" हाँफते-हाँफते बोला ।

"तो डर क्यों रहे हो ? तुमने क्या चोरी की है या डाका मारा है ? पुलिस सबको थोड़े ही पकड़ती है ।"

वह बहुत ही पास आकर बोला—

"पंडित ! सो मति कहिये—वाको कछु ठीक नाँहि कब किसे पकरि ले जाय ? हमारो भय्या तो बिना बात के छह साल की काटि के आयो है । पूरे छह साल की ।"

इस प्रकार उसने अपना दृष्टिकोण जब सप्रमाण बता डाला, फि उसे समझाने-बुझाने के लिये मेरे पास कुछ भी शेष न रहा । मैं ग की ओर चल दिया ।

गंगा के किनारे बैठा-बैठा सोच रहा था—कब आयेगा उनका उत्तर ? कब ? तीन दिन में पत्र इलाहाबाद पहुँचेगा ! वहाँ से गाँव जायेगा फिर वह उत्तर लिखेंगी । तब कहीं आठ दस दिन बाद मिलेगा उनका पत्र ! पहिला पत्र !!

तभी गाँव की ओर से आवाजें आती सुनं पड़ीं— 'पकड़ो ! पकड़ो !! वह गया ! वह गया !!"

मैं चुपचाप उसी गंगा की रेती पर जा लेटा था और सदा की भाँति गंगा की ठंडी रेती मुट्ठियों में बाँध-बाँधकर बिखेरने लगा और इतनी बड़ी दुनियाँ में से खोज लेना चाहता था कनक के उस पत्र को । कब पहुँचेगा वह पत्र ? कौन जाने उत्तर भी दिया होगा । तब बीमार थीं । कहीं··· कहीं·········उन्हें कुछ हो गया·········

और आँखों से आँसू बहने लगे ।

तभी किसी के पैरों की 'खस्-खस्-सी' सुनाई पड़ी । एक काली-सी छाया मेरी ओर दौड़ी आ रही थी । वही अभागा 'हद्दुआ' मेरे सामने आ गिरा । हाँफते-हाँफते बोला—"पंडित मैं तो मरि गओ । अब का करौं ?"

मैंने आश्चर्य से पूछा—'क्या हुआ ?"

बोला—"मुखिया सों हमाई लड़ाई है सो डाकेजनी में हमारोऊ नाऊँ लिखाइदओ । अब पुलिस पिछेलीं परी है । अब बताउ का करें ?"

तभी वह चौकन्ना होकर बोला—"लो आ रही पुलिस ।"

मैंने कहा—"ठहर ! उधर छिप जा नदी की बड़ी कगार के पास मैं कह दूँगा इधर कोई नहीं है ।"

वह दौड़कर उधर छिप गया तभी पुलिस के दो सिपाही उधर आ पहुँचे । उनमें से एक बोला—

"अबे ओ ! कौन पड़ा है यहाँ ?"

दूसरे ने कहा—"साला कोई बदमाश है ।"

सुनकर मुझे लगा जैसे सहस्रों वृश्चिक दंशनों से मैं तड़प उठा

से मेरा सारा शरीर काँप उठा। उन नर-पशुओं को मैं किसी भी का उतर न दे सका। मैंने देखा वे मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। तभी उनमें से एक बोला—

"क्यों बे उल्लू के पट्ठे बोलता नहीं है ?" सुनकर मैं अपना सारा नवोचित विवेक खो बैठा। मेरे उन परम पूजनीय पिता को उल्लू कहा इन पशुओं ने ! और मैं अपने समस्त पशु बल के सहारे उन दोनों पर ूट पड़ा। बीमारी से उठा था सो पहिले जैसी शक्ति तो थी नहीं फिर मी बचपन का खेल-कूद कुश्ती के दांव-पेचों का जो ज्ञान और शक्ति अर्जित की थी उसी के संबल पर उन दोनों को मैंने अकेले ही घर दबाया। तभी हद्दुआ का कंठस्वर सुनाई पड़ा—

"दबाये रहियो पंडित मेऊँ आइ पहुँचो।" उसने आकर एक-एक हाथ से दोनों की गर्दनें आ दबोचीं ! फिर बोला—

"हमाये मूड़ से साफा लेकें बाँधियो तो पण्डित ! इन ससुरन के हाथ पांव।" मैंने झपटकर उसके सिर से साफा उतार लिया और 'बृटिश इण्डिया' के उन नर-पुंगवों के हाथ पैर बाँध दिये। तब हाथ झाड़कर उन 'शेर छाप' के साफे बांधे सिपाहियों को वह ठोकर मार बोला—

"ससुरन ने आफति कद्दई है। कछु करें न धरें तोऊ कात है— 'डाकाजनी करता है ! डाकेजनी करता है साला ! तो अब तुमें डाकुई बनिकें दिखायदें।"

फिर मेरी ओर मुड़कर एक बन्दूक और कारतूसों की पेटी उठाता हुआ बोला—'तुमऊ उठाइ लेउ बा बन्दूक अरु कात्तूसनु की पेटी। अब भाजि देउ नांइ तो इनके साथी पकरिकें ससुर बा गति करियें कि काक पण्डित।" कहते-कहते वह भाग दिया और जैसे-तैसे मैं भी उसके पीछे भागने लगा। थोड़ी देर भागते-भागते रुक गया फिर मुड़ बोला—

"सुनी हती पण्डित बीमार रहेओ। अब का करिओ। अच्छ

गए" कहते-कहते उसने उठा कर खीलों की बोरी की भाँति अपनी पीठ पर मुझे लाद लिया और इधर-उधर देखता भाग चला। रात-भर भागता रहा। सुबह तक हम दोनों सुरक्षित स्थान पर पहुँच गए। जैसे किसी भी स्थान पर रक्खी मिठाई को चीटियाँ खोज लेती हैं सो कुप्रसिद्ध बन्सी डाकू के गिरोह ने हम दोनों को भी खोज कर अपने विधि-विधान के साथ गिरोह में सम्मिलित कर लिया।

मैं प्रति पल एक ही बात सोच रहा था कि कैसी है विधि की विडम्बना! मैं आया था गंगाजी के किनारे घूमने और उस विधि के विधान ने बना डाला डाकू!

सोचने लगा—क्यों बाँधा उन सिपाहियों को? क्यों उठाई उनकी बंदूक और कारतूसों की पेटी? क्यों? क्यों? क्या यही होता है भाग्य? क्या इसी के सामने प्रत्येक प्राणी को चुपचाप सिर झुका देना होता है? तो कर्म कुछ भी नहीं? कर्म का जीवन में कुछ महत्व ही नहीं? सब कुछ है नियति? मात्र नियति? तभी वह बंसी डाकू मेरे पास आ बैठा।

बंसी के नाम से प्रांत के सेठ, साहूकार और पुलिस थर-थर काँपती थी। मुझे गिरोह के साथ रहते-रहते चार दिन हो चुके थे। इस बीच उन डाकू साथियों से बंसी के सम्बन्ध में जितनी भी कहानियाँ सुनी थीं उससे वह डाकू न लग कर मुझे देवता लग रहा था।

उसे डाकू बने कुल मिला कर दो वर्ष हुए थे। इसी बीच उसने जाने कितने अभागों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चले आते कर्ज से छुड़ा दिया था। जाने कितनी अनाथ लड़कियों का धर्म-पिता बन कर उनकी शादियाँ कराई थीं और गरीबी की चक्की में पिसते हुए न जाने कितने नर-नारियों का उद्धार किया था, उस अकेले बंसी ने। यह जान कर मन उसके प्रति श्रद्धा से भर उठता था।

उसने आ कर मेरे कंधे पर हाथ रखा और बोला—"पंडित! सोचि रहे होउगे कहाँ चक्कर में आइ फंसे! खबरि मिली है कि तुम्हारी किन्हीं बुआजी ने अपने सब जेवर बेंचि-बाँचि के एक हजार की [illegible]

दरोगाजी को । सो न होइ तो तुम लौटि जाउ अब ! फिरि कबहूँ मनु होइ तो आइ मिलिओ । अब खाना खाइ लेउ फिर हम भिजवाइ दीयें । चाहो तो आजु को तमासोऊ देखत जाउ ।"

उस दिन किसी बड़े सेठ के घर डाका पड़ने वाला था। मैं एक क्षण भी उन राक्षस कहे जाने वाले देवताओं के साथ नहीं रहना चाहता था। यह सोच-सोचकर ही मरा जा रहा था कि एक दिन किसी ने मेरे गाँव में आकर मुझे 'आवारा' घोषित किया था। तब याद आया मुझे वंशाभिमान से व्यथित पिताजी का वह निरीह चेहरा। फिर बिलखती माँ । गहरी उदासी में बुआजी की छलछलाती आँखें । अपना अन्धकार पूर्ण भविष्य ।

यह सब कुछ होते हुए भी डाके के उस तमाशे को देखने की जिज्ञासा मैं न रोक सका ।

मैंने उस बंसी से कहा—"आज का तुम्हारा डाका देखकर मैं कल चला जाऊँगा ।"

हँसते-हँसते बोला—"जाओगे कहाँ पण्डित? कहाँ हो सोऊ कुछ जान्त हो ? पूरी रास्ता आँखिन पे पट्टी बंधी रहिये तब पहुँच पाउगे घर ! ओरु जा बताएं देत एं। हम पापिन को भेदु काऊकों बताइदओ तो फिर ब्रह्म-हत्या करन परैगी" कहकर वह खिलखिला पड़ा ।

मैंने कहा—"बंसी ! ऐसा कभी सपने में भी न सोचना । तुम्हारे गिरोह के एक-एक आदमी की कहानी मैंने सुनी है । कोई अपमान की चोट खाकर, कोई गरीबी और अन्य परिस्थिति से विवश होकर तुम में आ मिला है ।

किसी दिन यह जमींदार राजा सब डाकू थे ठीक तुम्हारी तरह और आज वे वैधानिक डाकू हैं। साल के अन्त में उनके एजेन्ट सारी फसल की कमाई 'लगान' के नाम पर लूट ले जाते हैं। ब्याज खाने वाले बनिया सेठ साहूकार 'ब्याज' के नाम पर रहा-सहा उठा ले जाते हैं । और तुम उसी लूटे हुए 'ब्याज और लगान' के रुपयों को उनसे छीन कर जिन के खून पसीने की कमाई है उन्हीं को वापस ला देते हो। सो तुम पापी कैसे

हो सकते हो, बंसी काका !

इस विदेशी सरकार का कानून तुम्हें डाकू कह सकता है पर भगवान् के न्यायालय में तुम निरपराध ही माने जाओगे यह बात मैं अपने समस्त विश्वास के साथ कह सकता हूं।"

तभी वह गम्भीर होकर बोला—"तुम पढ़े-लिखे हो पण्डित सो सब समझते हो। हम तो एकई बात जान्त हैं। भगवान दीनदयालु हैं अरु दीन दुखियन केलें हमारेऊ मन में दया ममता है। इन्ही दीन दुखियन में से निकरि-निकरि के हम सब आये हैं। पण्डित कबऊं सुनो कि बंसी मरिगओ है तो हमें याद करोगे कि नाहि ?" कहते-कहते उसकी आँखें डबडबा आईं। फिर एक हाथ से आँखें पोंछता वहाँ से उठ गया।

सोचने लगा—जिसे संसार पत्थर समझता है सो अन्दर से कितना नरम है !

उस रात पड़ौस के एक जमींदार के घर पर डाका पड़ा। डाका डालने से पहले एक आदमी जो जमींदार के घर का सब भेद जानता था वह बंसी से सब भेद की बातें आकर बता गया। सब रात की अंधियारी मे बंसी अपने चुने हुए नौ आदमियों के साथ उस जमींदार के घर पर आकर टूट पड़ा!

मैं एक यात्री के वेश में पहले से ही उस गाँव में जा पहुँचा था। साथ रहने से गोली न खा जाऊँ इसीलिए यात्री के वेश में वहाँ पहुँच जाने की सूझ बंसी ने ही मुझे दी थी।

बंसी के गिरोह ने कुल मिलाकर बारह हवाई 'फायर' किये थे। बस इतने ही से उसने जमींदार की उस लम्बी-चौड़ी गढ़ी पर अधिकार कर लिया।

मैं सामने की चौपाल पर बैठा तमाशा देख रहा था। वहीं जाकर बैठने का उसने आदेश दिया था। थोड़ी ही देर मे बड़े-बड़े काठ और लोहे के बक्स ला-लाकर उस चौपाल के चबूतरे पर रक्खे ज...

उस जमींदार को बाँधकर लाया गया। उन बक्सों मे

गये। वर्षों की संचित वह पूंजी जो जाने कितने किसान मजदूरों की खून-पसीने की कमाई थी, उसी को बंसी ने एक घण्टे में आकर छीन लिया।

बंसी के हाथ में एक कागज था। उसी के अनुसार वह किसानों को बुला-बुलाकर सोने की गिन्नियाँ और चाँदी के रुपये बाँटने लगा। लगा जैसे इस विदेशी सरकार के विरुद्ध उसकी अपनी भी एक छोटी-सी सरकार है, जिसमें विधि है, विधान है।

फिर जाने कितनी बूढ़ी माताएँ बंसी काका को आशीर्वाद देने आईं और जाने कितने बच्चे काका की गोद में बैठने आये। मुझे बताया गया कि उन माताओं को विश्वास था कि जो बच्चा बंसी की गोद में एक बार बैठ जाता है, वह बंसी जैसा ही एक दिन बहादुर बनेगा।

उस कलियुगी दानी कर्ण ने जब बहुत कुछ वहाँ दान कर दिया तब शेष भी इतना था जो कई घोड़ों पर लाद लिया गया।

जाते-जाते कैसी कड़कती और डरावनी आवाज में बंसी ने कहा था—"जमींदार साब! खून करन की हमें आदत नांइ है इकिले जो कछू भेद की बात पुलिस सों कही तो गोली से तुम्हारी खुपड़िया फूटि जइये सो. मति भूलि जइयो।" कहकर वह आँधी के वेग की भाँति वहाँ से अपने साथियों के साथ चला गया।

थोड़ी देर बाद मैं भी गिरोह में जाकर मिल गया। वहाँ जाकर मुझे पता चला कि एक आदमी छाया की भाँति मेरे साथ रहा था।

सोचने लगा—कितने सतर्क हैं ये लोग। देव हैं या दानव?

मानव !

दूसरे दिन आँखों से पट्टी बाँधकर मुझे एक बैलगाड़ी में लिटा दिया गया। मेरा सारा शरीर एक चादर से ढक दिया गया था।

चलते समय बंसी आया। रुँधे कण्ठ बोला—"पण्डित ! आँखें बाँध के बामन को दुख दे रहे हों सो जाने का गति हुइए।"

फिर मेरे हाथ में एक भारी थैली देकर बोला—"जा लेउ पण्डित ! अपनी बुआ को दे दीओ। जा जमाने में को किन के सें जेवर बेचतुये।"

मैंने आग्रहपूर्वक कहा—"नहीं, यह मैं नहीं मानूंगा। किसी भी तरह नहीं।"

तब भरयि स्वर में बोला—"लिआउ पण्डित ! नांइ तो पछिताइओ कि बंसी की बात नाइ मानी। कब जानें कब ईसुर मट्टी समेटि लेइ। अब पुलिस घेति चली आति है। असीरी मिलनो समुझो अब तो। सोका बंसी की असीरी भेंट लौटाल दीओ ?" सुनकर मेरी आँखें डबडबा आईं।

सोचने लगा—यही वह बंसी है जिसके आतंक की कहानियों से अखबार भरे रहते हैं, जिसका नाम सुनकर उससे अपरिचित लोग थर-थर काँपते हैं ? नहीं वे जान पाते इस 'बंसी' को जो अभी बोल रहा है। 'बंसी' को जो इस हाड़ माँस के 'बंसी' के अन्दर बैठा है—सोचते-सोचते मैंने वह थैली उसके हाथ से ले ली।

उसका हाथ पकड़ कर अपने माथे से लगाया। पंडित की मार
र्वाद दिया—"वन्सी काका! जुग-जुग जिओ! भगवान् तुम्हारा
करे।"

मैंने मन ही मन में कहा—हे अन्तर्यामी! यदि दे सके तो ऐसा
हस और ऐसा ही मन मुझे दे दे। मेरे रोम-रोम में वंसी की शक्ति
ौर वंसी का शौर्य भर दे।

वैलों के गले में बंधे लोहे के पत्ते बजने लगे और गाड़ी 'खरड़-
खरड़' चल दी। गाड़ी की ताल बद्ध खरड़-खरड़ में मैं डूब गया। ध्यान
आया उस हेडमास्टर का जिसने मुझ निरपराध की हथेलियों को लोहू
लुहान कर डाला था। यदि मैनेजर ने उसे बेंत ही मारने के लिये विवश
किया था तो धीरे-धीरे मारता। इतनी जोर से क्यों मारे? इसलिए कि
उसका लड़का 'आई. सी. एस.' परीक्षा के सलेक्शन में जाने वाला था।
इसलिए कि वह मैनेजर विदेशी सरकार का ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी था;
जिसके सामने जा कर वह डींग मारता—"साव! यह बेंत मारे कि
हथेलियों से खून निकलने लगा। मार-मार के खाल उधेड़ डाली।" उसी
सिलसिले में लड़के के लिये सिफारिश की बात भी हो जाएगी।

फिर सुना था कि वह 'आई. सी. एस.' के सिलेक्शन में भी आ गया
था—नीच! कायर!! राक्षस!! विदेशी सरकार की कठपुतली! फिर
याद आई कनक। हथेलियों में बहता खून। मरहम पट्टी। हथेली प
गिरते कनक के वे आंसू। और मैंने उस हथेली को उठा कर अनजाने
माथे से लगा लिया। जिस पर किसी दिन वे आंसू झर उठे थे।

सोचने लगा—बुआ! गोद! उनके पैर!! उदासी-भरा चेहरा······
एक हजार की रिश्वत······जेवर बेच दिए ·····मेरे लिए······
लिए······सुन कर क्या कहेंगे उनके पिताजी? तब तब? माँ! रो
होंगी······चुपचाप······बुआ चुपाती होंगी·········पिताजी को
लिखी होगी·········मैं डाकू बन गया·········पंडित के वंश का लड़का
डाकू!! हत्या!! सुन कर वे टूट जाएँगे·········कैसे मुंह खुल ज

घोटुओं में दोनों हाथ दबा कर सिर झुका लेंगे ! फिर ? फिर ? पत्र आया होगा.......क्या लिखा होगा कनक ने ? क्या ? उसे याद होगी मेरी अब तक ?

किसी तरह साँझ हुई। सूरज डूबा। तारे निकले और मेरी आँखों की पट्टी खोल दी गई। तभी देखा सामने वही गंगा का घाट है। अब भी शांत कलकल करती गंगा बहती जा रही है। सोचने लगा—मेरे जीवन का 'कलकल' गीत क्यों मिट गया ? क्या मैं भी इसी भाँति शान्तिपूर्वक नहीं बह सकता ? इसी प्रकार बह पाता !

तब आकाश की ओर देख कर सोचने लगा—क्यों आया हुदुआ उस दिन मेरे पास ? क्यों मैं डाकुओं में जा पड़ा ? क्यों आया ये बन्सी डाकू मेरे जीवन में ? क्यों हो रहा है यह सब ? बता दे ओ अन्तर्यामी ! इस सब में क्या है तेरा संकेत ? क्या जगाना चाहता है तू मुझ में ?

लगा जैसे कहीं मौनी बाबा का स्वर बोल उठा—जीवन से युद्ध कर ! संघर्ष कर !! विजयी बन ! विजय ! विजय ! बुआ ने कहा था—'जीवन-भर सपने ही देखते रहोगे ?"

फिर लगा जैसे कहीं खड़ी रुँधे कंठ से कनक कह रही है—"चुपचाप क्यों सह लिया ऐसा अत्याचार ? मैं होता तो ....।"

सोचने लगा—बंसी और उसके साथियों ने अत्याचार को चुपचाप नहीं सहा। इसीलिए वे सारे नियमों को तोड़ कर मरने-मारने के लिए सामने आ गए ! उनमें शौर्य है ! उनमें पौरुष है !! किन्तु यह हिंसा ? मार-काट ? तभी याद आए कनक के पिताजी ! भाईजी !!

बुआ कहती हैं—मुझ में 'लड़की' अधिक है 'पुरुष' कम ! यदि बंसी जैसे डाकू इस ब्रिटिश सरकार के सामने उठ खड़े होते ! सामने से वार करते ! *फिर भी कितनी होगी वह शक्ति उस साम्राज्य के सामने ? जिसमें* कभी सूरज नहीं डूबता ! तो फिर ? अकर्मण्य बने ही सहते जाएँ इस अत्याचार को जिसे मैं इन दस दिनों में देख कर आया हूँ ?

जीवन में पहली बार मुझे ऐसा लगा जैसे मन में कुछ उथल-पुथल-

सका हाथ पकड़ कर अपने माथे से लगाया। पंडित की भाँति
ादि दिया—"वन्सी काका ! जुग-जुग जिओ ! भगवान् तुम्हारा
करे।"

मैंने मन ही मन में कहा—हे अन्तर्यामी ! यदि दे सके तो ऐसा
स और ऐसा ही मन मुझे दे दे। मेरे रोम-रोम में बंसी की शक्ति
र बंसी का शौर्य भर दे।

बैलों के गले में बंधे लोहे के पत्ते वजने लगे और गाड़ी 'खरड़-
रड़' चल दी। गाड़ी की ताल बद्ध खरड़-खरड़ में मैं डूब गया। ध्यान
आया उस हेडमास्टर का जिसने मुझ निरपराध की हथेलियों को लोहू-
लुहान कर डाला था। यदि मैनेजर ने उसे बेंत ही मारने के लिये विवश
किया था तो धीरे-धीरे मारता। इतनी ज़ोर से क्यों मारे ? इसलिए कि
उसका लड़का 'आई. सी. एस.' परीक्षा के सलेक्शन में जाने वाला था।
इसलिए कि वह मैनेजर विदेशी सरकार का ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी था;
जिसके सामने जा कर वह डींग मारता—"साब ! यह बेंत मारे कि
हथेलियों से खून निकलने लगा। मार-मार के खाल उधेड़ डाली।" उसी
सिलसिले में लड़के के लिये सिफारिश की बात भी हो जाएगी।

फिर सुना था कि वह 'आई. सी. एस.' के सिलेक्शन में भी आ गया
था—नीच ! कायर !! राक्षस !! विदेशी सरकार की कठपुतली ! फिर
याद आई कनक। हथेलियों में बहता खून। मरहम पट्टी। हथेली पर
गिरते कनक के वे आंसू। और मैंने उस हथेली को उठा कर अनजाने ही
माथे से लगा लिया। जिस पर किसी दिन वे आंसू झर उठे थे।

सोचने लगा—बुआ ! गोद ! उनके पैर !! उदासी-भरा चेहरा······
एक हजार की रिश्वत······जेवर बेच दिए ······मेरे लिए······
लिए······सुन कर क्या कहेंगे उनके पिताजी ? तब तब ? माँ ! रो
होंगी······चुपचाप······बुआ चुपाती होंगी········पिताजी को
लिखी होगी········मैं डाकू बन गया········पंडित के वंश का लड़का
डाकू !! हत्या !! सुन कर वे टूट जाएँगे········कैसे मुंह खुल जा

१९

ममता !

पता नहीं क्यों घर लौटते समय मन में आह्लाद न हो कर भरा था मात्र विषाद। घर में घुसते ही लगा जैसे विगत कुछ दिनों में ही सब कुछ बदल-सा गया है। आँगन में जगह-जगह कूड़ा करकट पड़ा था। श्मशान की-सी शान्ति थी। सोचने लगा—कहाँ हैं वे ममतामयी बुआ ? कहाँ हैं माँ और शांतो ?

मैं माँ के कमरे की ओर बढ़ा। उनके खाँसने की आवाज आई और मैंने धीरे से कहा—"माँ !"

साथ ही माँ का रुँधा, थका-सा कंठ स्वर सुन पड़ा—"आ गए बेटा ! इधर आ जाओ ! मुझ से उठा नहीं जाता !"

मैं उस अंधकार में टटोलता-टटोलता आगे बढ़ा। टटोल कर पैर छुए। माँ ने आशीर्वाद दिया। माँ ने तकिए के नीचे से निकाल कर दियासिलाई की पेटी दी। मैंने दिया जलाया। दीए के उस धुँधले प्रकाश में माँ को देख कर मन आशंका से भर उठा। उनके चेहरे की हड्डियाँ उभर आई थीं। आँखें गड्ढों में चली गई थीं।

संक्षेप में माँ ने बताया कि—"जब शान्तो ने सुना कि भइया का पुलिस से झगड़ा हो गया है। पुलिस उन्हें पकड़ना चाहती है। तो घर-घर जा कर पूछने लगी, 'पुलिस भइया को पकड़ कर क्या करेगी ?' पता

सी मच गई है। जितना सोचता हूँ वह उतनी ही बढ़ती जाती है। लगता था—सोचते-सोचते पागल हो जाऊँगा।

मैं अपनी दोनों हथेलियों के बीच माथे को बार-बार दबाने लगा।

बंसी का वह साथी धीरे से बोला—"अच्छा पंडित ! अब गाड़ी से उतरि जाउ। हम कऊँ भरोसे की जगह रात काटि के भुरारें चले जइएं।"

मैं गाड़ी से उतर कर गांव की ओर चलने लगा। तभी वह बोला—"पांय लागें पंडित।"

"खुश रहो भइया" कह कर मैं गांव की ओर चलने लगा। मन ही मन सोचने लगा—हाय रे मानव ! और तेरा जीवन-संघर्ष !

१९

ममता !

पता नहीं क्यों घर लौटते समय मन में आह्लाद न हो कर भरा था मात्र विषाद। घर में घुसते ही लगा जैसे विगत कुछ दिनों में ही सब कुछ बदल-सा गया है। आँगन में जगह-जगह कूड़ा करकट पड़ा था। श्मशान की-सी शान्ति थी। सोचने लगा—कहाँ हैं वे ममतामयी बुआ? कहाँ हैं माँ और शांतो?

मैं माँ के कमरे की ओर बढ़ा। उनके खाँसने की आवाज़ आई और मैंने धीरे से कहा—"माँ!"

साथ ही माँ का रुँधा, थका-सा कंठ स्वर सुन पड़ा—"आ गए बेटा! इधर आ जाओ! मुझ से उठा नहीं जाता!"

मैं उस अंधकार में टटोलता-टटोलता आगे बढ़ा। टटोल कर पैर छुए। माँ ने आशीर्वाद दिया। माँ ने तकिए के नीचे से निकाल कर दियासिलाई की पेटी दी। मैंने दिया जलाया। दीए के उस धुंधले प्रकाश में माँ को देख कर मन आशंका से भर उठा। उनके चेहरे की हड्डियाँ उभर आई थीं। आँखें गड्ढों में चली गई थीं।

संक्षेप में माँ ने बताया कि—"जब शान्तो ने सुना कि भइया का पुलिस से झगड़ा हो गया है। पुलिस उन्हें पकड़ना चाहती है। तो घर-घर जा कर पूछने लगी, 'पुलिस भइया को पकड़ कर क्या करेगी?' पता

ी मच गई है। जितना सोचता हूँ वह उतनी ही बढ़ती जाती है। लगता था—सोचते-सोचते पागल हो जाऊँगा।

मैं अपनी दोनों हथेलियों के बीच माथे को बार-बार दबाने लगा।

बंसी का वह साथी धीरे से बोला—"अच्छा पंडित ! अब गाड़ी से उतरि जाउ। हम कऊँ भरोसे की जगह रात काटि के भुरारैं चले जइएँ।"

मैं गाड़ी से उतर कर गाँव की ओर चलने लगा। तभी वह बोला—"पाँय लागें पंडित।"

"खुश रहो भइया" कह कर मैं गाँव की ओर चलने लगा। मन ही मन सोचने लगा—हाय रे मानव ! और तेरा जीवन-संघर्ष !

१९

ममता !

पता नहीं क्यों घर लौटते समय मन में आह्लाद न हो कर भरा था मात्र विषाद। घर में घुसते ही लगा जैसे विगत कुछ दिनों में ही सब कुछ बदल-सा गया है। आँगन में जगह-जगह कूड़ा करकट पड़ा था। श्मशान की-सी शान्ति थी। सोचने लगा—कहाँ हैं वे ममतामयी बुआ? कहाँ हैं माँ और शांतो?

मैं माँ के कमरे की ओर बढ़ा। उनके खाँसने की आवाज आई और मैंने धीरे से कहा—"माँ!"

साथ ही माँ का रुँधा, थका-सा कंठ स्वर सुन पड़ा—"आ गए बेटा! इधर आ जाओ! मुझ से उठा नहीं जाता!"

मैं उस अंधकार में टटोलता-टटोलता आगे बढ़ा। टटोल कर पैर छुए। माँ ने आशीर्वाद दिया। माँ ने तकिए के नीचे से निकाल कर दियासिलाई की पेटी दी। मैंने दिया जलाया। दीए के उस धुंधले प्रकाश में माँ को देख कर मन आशंका से भर उठा। उनके चेहरे की हड्डियाँ उभर आई थीं। आँखें गड्ढों में चली गई थीं।

संक्षेप में माँ ने बताया कि—"जब शान्तो ने सुना कि भइया का पुलिस से झगड़ा हो गया है। पुलिस उन्हें पकड़ना चाहती है। तो घर-घर जा कर पूछने लगी, 'पुलिस भइया को पकड़ कर क्या करेगी?' पता

...स सत्यानासी ने कह दिया कि पुलिस उसे न पकड़ पाई तो ...
र देगी। भइया गोली से मारे जाएँगे। हड्डी कड़क कर टूट जाएगी
भय्या छटपटा कर मर जायेंगे। पुलिस उसकी माटी को घसीटेगी
जाने क्या ? क्या ?

सो बेटा वह दो दिन बाद बीमार पड़ गई। और पाँचवें दिन
...या ! पुलिस ! भय्या !!' करती चल बसी। भाई की ममता ने उसे
...र डाला।" सुनकर मेरी साँस रुकने लगी।

मुझे लगा मानो सामने खड़ी शन्तो कह रही है—"भय्या ! बुआ
...ुला रही हैं।" तभी हिचकते हुए मैंने कहा—"और बुआ जी !"

माँ ने आँचल से आँखें पोंछते-पोंछते कहा—"बेटा ! तेरी बुआ इस
कलयुग की देवी है। अपना सारा रुपया शन्तो की बीमारी में खर्च कर
दिया। दूर शहर से सिविलसर्जन को बुलाया। वह मोटर में आया था।
लेकिन मौत के आगे कोई क्या करे ? दिन-रात बिना सोये चुपचाप
शन्तो के पास बैठी रहती थीं। इधर शन्तो की बीमारी, उधर तेरे लिये
जाने किसे-किसे बुला कर बातें करती थीं।

फिर गाँव के मुखिया से मिलकर दरोगा जी को एक हजार की
रिश्वत दी। बेटा बक्स खोलकर जेवर की कील-कील निकाली और
जगन सेठ के हाथ में दे दी।

मैंने बहुत मना किया तब आँखों में आँसू भरकर बोलीं—"भाभी !
और कौन है मेरा इस इतनी बड़ी दुनिया में ? एक-ही तो है मेरा
भतीजा ! सो तुम कह रही हो कि यह जेवर बक्स में रखा रहे और
बिना कसूर अनूप को पुलिस पकड़ कर जेल में बन्द कर दे। सो मुझसे
नहीं देखा जायेगा भाभी !"

मैं भी चुप रही। एक हजार की थैली मुखिया दरोगाजी को दे आये
दरोगाजी की खबर आ गई थी कि—"अनूप को कैसे भी खबर कर
बुला लो। हम मुकद्दमा नहीं चलायेंगे।"

मैं घबराता-सा बोला—"फिर बुआ कहाँ गई माँ ?" माँ बोली

एक दिन उनके पिताजी का भेजा आदमी आया सो वे दूसरे ही दिन इलाहाबाद चली गईं। जाते-जाते कितनी रोईं थीं। देखकर बेटा, मेरी छाती फटी जाती थी।" कहते-कहते माँ चुप हो गईं।

बहुत देर तक लेटी-लेटी छत की ओर टकटकी लगाये चुपचाप आँखों से आँसू बहाती रहीं।

आसू पोंछते-पोंछते एक लम्बी साँस लेकर बोलीं—"तू कहाँ-कहाँ रहा था बेटा। दिन रात मेरे प्राण काँपते रहते थे। जब कोई घर में आता था तो सोचती थी कि पता नहीं तेरे बारे में कैसी क्या खबर देगा।"

मैंने कहा—"माँ, अब सो जाओ। मैं सब बातें कल बतलाऊँगा।"

बोली—"अच्छा, उस खिड़की मे मूँग के लड्डू रक्खे हैं। खाकर सो जा।"

मैंने कहा—"माँ! मैंने थोड़ी देर पहिले ही खाया है।" कहकर मैं चुपचाप वहीं बैठा रहा। कितने दिनों की जगी माँ धीरे-धीरे सो गईं। तब उठकर मैंने एक दरी कमरे के सामने दालान में बिछाई और लेट गया।

सोचने लगा—तो कनक ने उत्तर नहीं दिया! नहीं दिया!! भूल गई? शन्नो! बेचारी छोटी-सी शन्नो!! गोली! पुलिस!! बुआ जी जाते-जाते बहुत रोई थी!

उस दिन कह रही थी—साँची प्रीति का सबसे बड़ा प्रतीक, सबसे बड़ा प्रमाण है आँसू! तो क्या? तो क्या? रोती तो माँ भी हैं। तो आँसू-आँसू में भेद है?

माँ के आँसुओं में वात्सल्य है। शन्नो के आँसुओं में भय्या के लिये गहरी पीर और बुआ? और कनक के वे करुणा और स्नेह भरे आँसू और मैं? मैं क्या कर सका हूँ आज तक किसी के लिये? सारा शरीर तन-सा उठा!!

सुबह उठकर अरहर की झाड़ू लेकर सारा घर द्वार साफ किया। वर्न्सी के दिये रुपयों की थैली लेकर जगन सेठ के घर गया। उनसे

जेवरों की कौल-कौल वापस लाया। बुआ को एक लम्बा पत्र लिखा था। गाय का दूध निकाला। माँ के लिए खिचड़ी पकाई। जब वह खिचड़ी लाकर माँ के सामने रखी तो आर्द्रकण्ठ से बोलीं—"लगता है बेटा ! तू दूसरा अनूप बन कर आया है !! अब तुझे देख कर कितनी खुशी होगी तेरे पिता जी को।"

२०

प्रतीक्षा !

थोड़े दिनों में माँ ठीक हो गई और मेरे पास करने धरने को कुछ भी नहीं रहा। वही 'चौपाल का चमगीदड़' बना पड़ा रहता था। रोज कर्महीन, निरुद्देश्य जीवन का दिवारम्भ होता था और फिर आती थी उदासी लिये अवसन्न साँझ, ग्लानि भरी रात और इसी भाँति प्रतिपल प्रतिदिन मैं अपने जीवन की हत्या किये जा रहा था।

तब ऐसे ही दिनों में एक दिन गाँव का पोस्टमेन आकर चौपाल पर बैठ गया। झोले में से एक लिफाफा निकाला। उसकी ऐनक और कानों का सम्बन्ध दो मैले सूती डोरों से हो रहा था। आँखों की पुतलियों को ऐनक के शीशों में से घुमा फिरा कर उसने सगर्व अंग्रेजी में लिखा नाम पढ़ा—"मिस्टर अनूप त्रिवेदी !"

मैंने चारपाई से उछल कर बूढ़े डाकिये के हाथ से लिफाफा छीन लिया। उसके कोने पर पते की ओर लिखा था 'कनक'। लिफाफा लिये मैं चौपाल में गया और सबसे पहिले चटापट मैंने सब किवाड़ और खिड़कियें बन्द कर दी। जैसे जो आनन्द का सागर इस लिफाफे में बन्द होकर आया है वह कहीं इस चौपाल, खिड़कियों और द्वारों की राह बाहर न निकल जाये, संसार में बिखर न जाये। कहीं किसी [illegible] न मिल जाये।

उस दिन पहिली बार मैं पहिचान पाया था अपनी उस सर्वहारा
धिकार की वृत्ति' को तभी धीरे से मैंने यह लिफाफा खोला—दायें
की ओर आंखों की पुतलियाँ घूम गईं।
लिखा था—'इलाहाबाद !' फिर बाँई ओर पुतलियाँ घूम आईं मैंने
रे से पढ़ा—

अनूप !

मैं सोचने लगा—इस 'अनूप' के पूर्व पश्चात् कुछ भी नहीं ? मैं
उनका मित्र शत्रु कुछ भी नहीं ? और फिर पढ़ने लगा—

कितने वर्षों की प्रतीक्षा के वाद तुम्हारा संक्षिप्त-सा पत्र मिला। मैं
अभी नैनीताल से लौटी हूँ और उत्तर लिखने बैठ गई हूँ। कितनी बार
तुम्हें पत्र लिखने के लिये सोचा किन्तु किसी भी प्रकार लिख ही न सकी।

आगामी जुलाई मास मैं कलकत्ते जा रही हूं। वहीं मनोविज्ञान में
एम. ए. करने का विचार है। पिताजी ३ वर्ष वाद अहिंसक सत्याग्रह
का प्रसाद पाकर जेल से छूटे हैं। स्वास्थ्य गिर गया है। डाक्टरों ने
उन्हें पहाड़ पर जाने को राय दी थी। सो पिताजी के साथ ही पहिले
कांश्मीर गई, फिर नैनीताल कुछ दिनों रह कर लौटी हूँ।

अनूप ! दुनिया कहती है—काश्मीर और नैनीताल के प्राकृतिक
सौन्दर्य को देखकर मन मयूर की भाँति नाच उठता है लेकिन मेरा मन
तो मदारी के वन्दर की भाँति भी न नाच पाया। किसी भाँति दिन काट
कर लौटी हूँ।

पिताजी और अम्मा अक्सर तुम्हारी याद किया करते हैं। अनूप
मेरे जाने में अभी पन्द्रह दिन शेष हैं। अम्मा कहती हैं कि तुम्हें आने
लिये लिख दूं। आ सकोगे ? आ जाना अनूप। अम्मा और पिता
तुम्हें आशीर्वाद लिखा रहे हैं। मेरा सवको नमस्कार कहना—अ
है माँ का निमन्त्रण अस्वीकार न करोगे। ठीक है न ?

प्रतीक्षा में—

'कनक'

जाने कितनी बार उस पत्र को मैंने पढ़ा था और एक-एक वाक्य के जाने कितने अर्थ लगाये थे। कितनी बार उस पत्र को आँखों और माथे से लगाया था।

कितनी बार लगा था जैसे उस पत्र के शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर में मेरे प्रति उपेक्षा और अवहेलना भरी है, जैसे मेरे पत्र का उत्तर दिया है मात्र शिष्टता के नाते! सोचने लगा—अम्मा कहती हैं कि तुम्हें आने के लिये लिख दूँ। और तुम? तुम क्या कहती हो? तुम्हें क्या किसी से? तुम्हें क्या पता कि‥‥ ‥‥ कि‥‥ ‥‥।

तो "आ जाना अनूप!" क्यों लिखा? क्या अर्थ है इसका? "आशा है माँ का निमन्त्रण अस्वीकार न करोगे।" तो यह माँ का निमन्त्रण है। और तुम्हारा? तुम? शाम तक लेटा-लेटा उस पत्र के एक एक शब्द की 'श्रुति-सूत्रों' की भाँति भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचना और व्याख्या करता रहा।

पता नहीं क्यों मुझे लगा जैसे कनक के उस पत्र में जो मैंने चाहा था वह नहीं मिला।

सोचने लगा—इस धरती पर मुझ जैसा मूर्ख और भी कोई होगा। कितने वर्षों से शून्य गगन में कनक को लेकर निराधार महल बनाता आ रहा हूँ और लगा जैसे वह महल बिखर कर मेरे ऊपर ही आ पड़ा हो। लगा जैसे प्यासे मृग की भाँति मरुस्थल पर पड़ा मैं सिसक रहा हूँ।

जैसे किसी ने पहाड़ की चोटी से उठा कर गहरे गर्त में पटक दिया है। और मेरी अस्थियाँ रुधिर मज्जा में लिपटी इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। मैं चुपचाप निःशब्द उस चोपाल में पड़ा रहा।

कितनी बार गहरी निश्वासों के साथ निकल पड़ता था—क‥‥न‥‥ ‥‥क! क‥‥न‥‥क!! अब क्या‥‥‥करूँ? क‥‥न‥‥क‥‥क्या‥‥ करूँ‥‥मैं? यह‥‥क्या‥‥किया‥‥तुमने‥‥कनक!

हाथ मुँह धोकर उसी मनोदशा में मैंने कनक को एक संक्षिप्त

लिख दिया कि वहाँ आने में कुछ कारणोंवश विवश हूँ।

उसके बाद कनक का रोष भरा पत्र आया था? मैंने भी उसका प्रत्युत्तर उसी भाषा में दिया था। उस कठोर उत्तर को भेज कर गंगा की रेती में कितनी रात गए तक छटपटाता रहा था उस कनक के लिए जो मुझे भूल गई थी।

२९

प्रणय !

बचपन मे एक बार बाबा ने कहा था—"प्रातःकाल धूप निकल आने के बाद भी जो सोता रहता है उसके ललाट पर सूर्य भगवान् अपनी किरणों से दुर्भाग्य के आँक लिख दिया करते हैं। उन दुर्भाग्य के आँकों को वह अभागा फिर कभी नहीं मिटा पाता।"

पता नही क्यों बाबा की वह बात मेरे मन मे बैठ गई थी। सो उस दिन से कभी ऐसा नही हुआ कि मेरे जागने से पूर्व सूर्य भगवान् अपनी किरणों की लेखनी से मेरे माथे पर कुछ भी शुभ-अशुभ लिख पाये हों किन्तु उस दिन कनक को वह कठोर पत्र लिखकर जब बहुत रात गये गंगा किनारे से लौटा तो धूप निकले तक सोता रहा।

फिर तो जैसे धूप निकले तक सोने का अभ्यास-सा हो गया था—लगा जैसे ससार का एक-एक अवगुण खोज-खोज कर मैं ग्रहण कर लेना चाहता हूँ। गाँव में एक भंगेड़ी था सो उससे माँग-माँग कर भाँग भी खाने लगा किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी उसका गाँजा न पी सका।

उर्दू की गजलो से मुझे बचपन से ही घृणा थी सो उन गजलों को भी याद करने लगा!

उस दिन भग बहुत चढ़ा ली थी। छत पर दिन र
रहा। जब धूप मे माथा जलने लगा तब आँखें अपने ट

गईं। आँखें खोल कर जो देखा सो लगा जैसे संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य मेरे सामने आकर प्रकट हो गया है।

कितने दिनों से दाढ़ी नहीं बनाई थी। बाल बिखरे थे। बिस्तर की चादर मैल से काली पड़ गई थी और बुआ का वह 'For get me not' वाला गिलाफ तेल और मिट्टी के मिश्रण से कीचड़-सा हो गया था।

सामने खड़ी थीं वे जिसके द्वारा लिखी-मात्र एक कड़ी बात ने मुझे तोड़ डाला था, सोचा था मुझे बुरा लिखा है तो बुरा बनकर ही दिखा दूंगा। बुरा अति बुरा! उसकी उस एक बात ने मिटा-सा डाला था। लिखा था—अनूप! कितने बुरे हो तुम?

वे खड़ी थीं—मेरे सामने निर्वाक्! निस्तब्ध!! जाने कितनी देर से खड़ी होंगी। जीवन के भूले स्वप्न-सी, नैराश्य की विस्मृत-सी! कनक! साकार कनक!!

मुझे लगा जैसे मेरी वह खाट गोल-गोल घूम रही है। शायद इस लिये भी कि भाँग का नशा अभी तक नष्ट नहीं हुआ था। मैंने आत्म-ग्लानि से सिर झुका लिया और चुपचाप उठकर बिना एक शब्द कहे पिछली सीढ़ियों से उतर कर नीचे चलने लगा।

वे बोलीं—"अनूप! ऐसा क्या बिगाड़ा है मैंने तुम्हारा जो अपमान पर अपमान किये चले जाते हो? तुम्हें मेरी सौगन्ध है जो कहीं जाओ।"

कनक पिछली रात ही पास के शहर में आगई थी और उस दिन सुबह ही घर आ पहुँची। आते ही पहिले माँ से मेरे सारे समाचार सुने थे और अपना सम्पूर्ण परिचय देकर वह छत पर आई थी।

कनक की उस सौगन्ध की उपेक्षा किसी प्रकार भी न कर सका। मैं नीचे उतर कर घर गया। कनक ने बक्स में से मेरे साफ कपड़े निकाले, ताख से उठाकर शेविंग का सामान तौलिया, साबुन मेरे सामने रख कर कहा—

"ये रक्खा है सब कुछ।" लगा जैसे बनारस की वह छोटी कनक अपने घर में खड़ी कह रही है—"उधर रक्खा है सब कुछ!" और मैं

चुपचाप उस 'मन बुद्ध' को उठाकर बाहर मन्दिर के सूँटे पर आया।

जब नहा-धो कर आदमी बन कर घर में पैर रखता तो देखा कनक रसोई में बैठी पत्थर के पटे पर बेलन से रोटियाँ बना रही थी।

काले-काले रेशम जैसे चमकते बाल कंधों पर बिखर रहे थे। उन बालों से पानी की बूंदें मोती बन-बन झर रही थीं। पहले वाली बीमारी से कनक का रंग बदल कर अब हल्का गुलाबी-सा हो उठा था। कानों में उसी रंग से मिलते जुलते पुखराज जड़े टाप्स पहने थी। लाल चौड़ी किनारी वाली हल्की गेरुआ रंग की साड़ी पहने किसी गहरे ध्यान में डूबी कृष्णकाय तपस्विनी-सी रोटी बेल रही थी।

बेलन को थामे वे पतली लम्बी उँगलियाँ, कैसे बार-बार चलती थीं, झुकती थीं—फिर ऊपर को उठ जाती थी सो आज भी मुझे याद है। लकड़ी के पटे पर रखने के कारण उनके उन तलवों का रंग पके दाड़िम की भाँति गहरा गुलाबी हो उठा था। तभी उनका ध्यान भंग हुआ। कनक ने मेरी ओर देखा—सामने चूल्हे की जलती आग से उनका चेहरा तम-तमा-सा गया था। वह गुलाबी चेहरा और गुलाबी रंग में रंग गया।

वे दीप्त नेत्र! घनी लम्बी पलकें! एक बार झपक कर फिर ऊँची उठ गईं। सोचने लगा—उन आँखों में क्या है? प्रेम, उलहना! आक्रोश!! क्या? क्या?

लगा जैसे एक सम्मोहन-सा छाता जा रहा है, क्या झलक रहा है ऐसा इन आँखों में? तभी वे बोलीं—

"इधर आ जाइए!" चौके में पड़े पटे की ओर संकेत किया। मैं उस लकड़ी के पटे पर जा कर बैठ गया। उन्होंने थाली परोस कर उन लम्बी-पतली उँगलियों से मेरी ओर सरका दी। मैं चुपचाप रोटी के ग्रास धीरे-धीरे निगलने लगा। तभी बोलीं—"दाल में नमक कम है?"

"हाँ!"

वे तीन उँगलियाँ तर्जनी, मध्यमा और अँगूठा थोड़ा-सा नमक लिए दाल की कटोरी पर आईं और नमक छोड़ कर लौट गईं। फिर वो .

अब भी कम है ?"

"हाँ !"

फिर वे तीनों अँगुलियाँ आईं और लौट गईं। थोड़ी देर बाद लजाते कंठ से बोलीं—

"अब भी ?"

"हाँ !"

तभी अप्रतिभ-सी बोलीं—"हाय ! लगता है दाल में नमक डालना ही भूल गई !" वे उठ खड़ी हुईं। तभी मैंने पूछा "क्या हुआ ?"

बोलीं—"तुम्हारी दाल में इतना नमक डाल दिया फिर भी कहते हो कम है। लगता है मैं इसमें नमक डालना भूल ही गई !" तभी मुझे लगा कि वह दाल अधिक नमक के कारण कड़वी हो गई है। मैंने गिलास उठा कर पानी के तीन घूंट पिए। तब उनकी ओर देखा ! वे साड़ी से मुंह दबाए हँसी रोकना चाह रही थीं पर हँसी फूटी पड़ रही थी। हँसी के मारे उनका चेहरा लाल हो उठा। मैंने देखा उस हँसते चेहरे पर एकाएक गहरी उदासी छा गई। वे बोलीं—"अनूप !"

"हाँ !"

"क्या हो गया है तुम्हें ?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"कुछ भी तो नहीं।"

"और नहीं तो क्या ?"

"अच्छा !" कह कर वे चुप हो गईं। फिर हम दोनों में से कोई भी न बोला। मैं चुपचाप खा-पी कर उठने लगा, तभी वे बोलीं—

"बस अनूप !"

"हाँ !"

एक दिन सारे घर की रोटियाँ खा कर माँ का कटोरदान ही खाली कर दिया था सो मैं आज तक भूली नहीं हूँ। अनूप ! मैं पूछती हूँ तुम्हें हुआ क्या है ? छोटी-छोटी दो रोटियाँ खाई हैं तुम ने !"

"क्या खिलाते समय रोटियाँ भी गिना करती है ?" मुस्कराती-सी बोली—"बिना गिने कैसे गिन जाती हूँ सो तुम पुरुष लोग नहीं समझ सकते।"

"मैं तो समझ सकता हूँ।"

"कैसे ?

"बुआजी कहती थीं—मैं लड़की अधिक हूँ।"

सुन कर वे खिलखिला पड़ी और मैं अप्रतिभ चुपचाप बाहर चौपाल पर आ गया।

चौपाल मे पड़ी खाट पर लेटते ही मुझे ध्यान आया—कुटुम्ब के एक बूढ़े बाबा की तबीयत बहुत खराब थी सो माँ उन्हीं को देखने गई थीं। घर मे अकेली कनक को कैसा लग रहा होगा ! क्यों आई है ? क्या सोच कर ? मेरा वह पत्र भी मिल गया होगा। जाने क्या-क्या लिख दिया था। जाने कितनी देर तक मैं अपने ही मे डूबा वहाँ पड़ा रहा।

फिर पता नही कब चौपाल से उठ कर घर मे आ गया। कनक पिताजी के कमरे में बिना कुछ बिछाए एक खाट पर अपनी बाँह का तकिया बनाए लेटी थी। मुझे देख कर हड़बड़ाती-सी उठ बैठी। लगा जैसे अभी रो चुकी हैं। मैं लाज और आत्मग्लानि से गड़-सा गया—

सोचने लगा—कितनी दूर से आई—आते ही चूल्हे के आगे बैठ गईं ! पड़ोस से किसी को बुलवा कर रोटी बनवा सकता था। अनाथ-सी बिना बिछाए खाट पर पड़ी हैं। अकेले घर में कोई बात करने को भी नही। कैसा हूँ मैं ? यह दिया है मैंने उसे आतिथ्य ! स्वार्थी ! आत्मगत !

सोचते-सोचते दूसरे कमरे से मैं दरी, चादर, तकिया उठा लाया और उस खाट पर बिछाने लगा। तभी मेरे हाथ से दरी, बिछौना छीनती बोलीं—

"रहने दीजिए, ये सब मेरा काम है।"

"तो मेरे लिए इस संसार में कोई काम शेष नहीं रहा है ?

..." कह कर वे दरी बिछाने लगीं।"
...ा है ? वताएँगी ?"
...ीर-सी बोलीं—"भंग पीना।"
...न कर लगा जैसे किसी ने 'तड़ाक्' से मुँह पर तमाचा मारा हो।
...खड़ाता-सा उस कमरे से बाहर निकल आया। वे बुलाती ही रह
... मैं सीधा चौपाल में आया और अपनी उस चिर-परिचिता चारपाई
...जा गिरा। शाम तक चुपचाप वहीं पड़ा रहा।

सन्ध्या के झुरमुट में किसी ने चौपाल का किवाड़ खोला, साथ ही
...नक का कंठ-स्वर सुन पड़ा—

"अनूप !"

"कहिए।"

"कहीं घूमने चल सकते हैं ?"

"चलिए !" कह कर मैं खाट छोड़ कर उठ खड़ा हुआ।

मैं चुपचाप गंगा की ओर आगे-आगे चला जा रहा था और पीछे-पीछे कनक आ रही थी। जब तक गंगाजी के किनारे पहुँचे तब तक साँझ का धुँधला प्रकाश मिट चुका था। आकाश में वह रुपहला चाँद निकल आया था। गंगा के वे श्वेत सिक्त कण चन्द्रमा की रजत किरणों से चमचमा उठे थे। उसी में चाँद-सी जगमग करती गंगा की रेती पर मैं चुपचाप बैठ गया।

थोड़ा हट कर पास ही चन्द्रमा की ओर मुँह किए वे बैठ गईं। थोड़ी देर तक हम दोनों चुपचाप बैठे रहे, फिर वे बोलीं—

"नाराज हो गए अनूप ?"

"नाराज। कनक तुम से ?"

"कुछ देर चुपचाप बैठी रहीं फिर द्रवित कंठ से बोलीं—

"अनूप नाराज न होते तो क्या तुम ऐसा व्यवहार करते ? कि...
वर्षों बाद तुमसे मिली थी। जाने क्या-क्या सोचकर मैं आई थी। ...
कितनी बातें करनी थीं। जाने कितनी बातों में तुम से राय लेनी...

तुम घर अकेला छोड़कर दिन भर चौपाल में पड़े रहे। और मैं·······
मैं ·······।" कहते-कहते वे रुक गईं।"

फिर बोली—"अच्छा जाने दो अनूप ? ·······कल सुबह मैं चली जाऊँगी।"

मैं चौंक-सा पड़ा—"कल ही !"

"हाँ कल ही जाना पड़ेगा।"

"क्यों ?"

"कलकत्ता यूनिवर्सिटी में एडमीशन जो लेना है।"

"फिर ?"

"फिर क्या ?"

"कनक !"

"जी !"

"कनक !"

"कहिये !"

"मैं क्या करूँ ?"

"क्यों क्या हुआ ?"

लगता है जैसे मेरे चारो ओर अन्धेरा है। कहीं भी कुछ सूझ नहीं पड़ता। जिस किसी का सहारा लेना चाहता हूँ, वही छोड़ जाता है। बुआ आई थी, लगा था जैसे मैं सुरक्षित हूँ ! निरापद !! सब ओर ढका-सा है। वे चली गईं। जाना पड़ा उन्हें। और अब ··।"

"तुम अपने को अरक्षित-सा क्यों समझते हो अनूप ?"

"सो तो मैं भी नहीं जानता।"

"अनूप !"

"जी !"

"लगता है तुम्हारी बुआ बहुत समझदार है।"

"तुमने कैसे जाना ?"

"जिस रूप में उन्होंने तुम्हें जाना है वही तुम्हारा

"क्या ?"

"तुम में लड़की अधिक और पुरुष कम है।"

"सच कनक !"

"सच से भी अधिक। मैं तो कहती हूँ तुम्हें यदि 'पर्दे की रानी' कहा जाये तो अधिक उपयुक्त होगा।" कहकर वह खिलखिला पड़ीं।

उसकी वह कांपते कंठ से निकली 'खिलखिल' सामने बहती मंदाकिनी की 'कलकल' में घुलमिल कर मेरे कानों में गूंज उठी और मन में जाग उठी एक पवित्रम चेतना ! रहस्यमय भावना !!

सोचने लगा—यही है वह स्थान, गंगा की वह रेती जिस पर एक दिन सिपाहियों को पटक कर मैं 'डाकू' घोषित हो गया था। एक क्षण में एक पल में ! अनचाहे ! अनजाने !! और आज उसी स्थान पर क्या जाग रहा है ऐसा मुझ में ! हे भगवान् ! क्या है यह ? तभी मेरे मुंह से निकल पड़ा—

"कनक !"

"जी !"

"एक बात मानोगी ?"

"क्या ?"

"पहिले वचन दो।"

"कहिये भी तो।"

"नहीं पहिले वचन दो।"

"अच्छा, दिया।"

"तो अपने ये पैर छू लेने दो !"

"..............."

"बोलिये।"

"..............."

"कनक !"

"अनूप !" रुंधे कंठ से कहकर वे चुप हो गईं।

"नाराज हो गई कनक !"

"सोचती हूँ तुम्हारे मन में ऐसा भाव क्यों उठा ?"

"बुरा है ऐसा भाव ?"

"बुरा तो नहीं पर सोचती हूँ ऐसा क्या मान बैठे हो तुम मुझे ?"

"तुम्हें ? क्या मान बैठा हूँ ?"

तभी वे और निकट आ बैठी और बोली—"हाँ अनूप ! क्या मान बैठे हो तुम मुझे ?"

"कनक !"

"जी !"

"याद है एक दिन हमारे स्कूल ने एक ऐसी टीम को हॉकी के मैच में हराया था, जिस से विगत ५ वर्षों से स्कूल की टीम हारती आ रही थी। जिस टीम को हराना 'असम्भव' माना जाता था। वही टीम उस दिन एक गोल से हार गई थी।

जानती हो वह गोल किसने किया था ?"

"तुमने !"

"नहीं तुमने !"

"मैंने ?"

"हाँ कनक तुमने ! तुमने काँपते कंठ से कहा था—'अकेले अनूप ! अकेले—एक गोल !' और मैंने अकेले विक्षिप्त की भाँति दौड़ते-दौड़ते एक गोल ठोक दिया था। मेरी उस विजय का सहारा था, तुम्हारा काँपता कंठ ! तुम्हारी प्रेरणा ! तुम्हारे स्नेह की शक्ति !"

"मुझे तो कुछ याद नहीं।"

"जो बात तुम्हें याद नहीं वही मेरे जीवन का पाथेय-सा बन गया। यही तो है मेरा दुर्भाग्य !" कुछ देर हम दोनों चुपचाप बैठे रहे।

फिर मैं ही बोला—"और कनक ! वह रात ! वह कमरा ! वे क्षण !! जब जहाँ तुमने मेरी खून से लिसी हथेली में मरहम प[illegible] थी—तुम्हारे वे आँसू ! मेरे जीवन में अमृत बनकर घुल-मिल

जो मुझे जीवन देते हैं। सहारा देते हैं।

तुमने रुँधे कंठ में आक्रोश भर कर कहा—'कैसे सह लिया ऐसा अत्याचार ? मैं होती तो...............'

तुम्हारी वह प्रखरता ! जीवन का आदर्श बनकर मेरे अन्तस्थल में समिट-सी हो गई है।

लोग कहते हैं—परिचय और निकटता के लिये वर्ष चाहिए, समय चाहिये। लेकिन मैं कहता हूं सच्ची निकटता के लिये कुछ क्षण चाहियें। मिलन के प्रथम क्षणों में निकटता या दुराव की जो अनुभूति होती है, वही सब कुछ है। वे प्रथम क्षण ही होते हैं जिनमें कोई किसी को सदा के लिए अपना लेता है।"

वह सिर झुकाये बोली—"पहिली बार जब तुमने मुझे देखा था तब तुम्हें कैसा लगा था ?"

"लगा था जैसे तुम बहुत बड़ी हो और मैं बहुत छोटा !"

"बस !"

"और लगा था कि तुम अप्रतिम हो अलौकिक हो।"

"कविता न करो उस दिन जो बात मन में उठी थी वही बताओ।"

"सच कनक ! जब तुमने किवाड़ खोलकर मुझे देखा था तब बिलकुल यही मुझे लगा था। जब पट्टी बांधते-बांधते तुम रोई थी तब लगा था जैसे तुम पूर्व जन्म की मेरी कोई अपनी ही हो। —आत्मीया ! बिलकुल अपनी !!"

"और मैच के दिन ?"

"तब !"

"हाँ !"

"तब की बात सुनकर तुम नाराज हो जाओगी।"

"कहे जाओ अनूप, मेरी चिन्ता मत करो।"

"कनक ! लगा था जैसे मैंने अपना शक्ति-स्रोत पा लिया है। तब मैं छोटा था सो अपने इस भाव को स्पष्ट तो न समझ सका था किन्तु अब

कह सकता हूँ कि उस दिन मेरे मन मे यही भाव जाग उठा था !"

"और मेरा वह दूसरा कठिन पत्र पाकर !"

"..............।" मैं चुप रहा।

"बताओ अनूप !"

"..............।" किसी भी तरह न बोल सका।

"नही बताओगे ?"

"न बताने पर मुझे आगरे के पागलखाने में छोड़ कर ही तुम कलकत्ते जा सकोगी कनक !"

सुनकर वह खिलखिला पड़ी। फिर धीरे-धीरे गम्भीर होकर बोली—

"हाँ तो बताओ !"

"कनक ! तुम्हारा वह पत्र पाकर मैं दौड़ा-दौड़ा ठीक यहीं इसी जगह आकर बैठ गया था। मैंने सोचा था कि तुमने पत्र में अपने घर बुलाने का अति आग्रह किया होगा किन्तु उसमें यह पढ़कर कि—"मैं तुम्हें ऐसी Position में नही डालना चाहती कि किसी प्रकार की असुविधा हो। हाँ, यदि सुविधा हो तो अवश्य मैं चाहूँगी कि तुम यहाँ आ जाओ और यह कि कितने बुरे हो तुम अनूप ? पत्र मे लिखे मेरे भावो का कैसा ऊट पटांग अर्थ लगाया है तुमने ?'

यह पढ़कर मैंने निश्चय किया कि मैं बुरा बनकर ही तुम्हें दिखा दूँगा। फिर मेरे उस पतन को देख-सुनकर तुम यह सीख लो कि किसी को बुरा कह देने का क्या अर्थ होता है।" तभी वे हँसती-सी बोलीं—

"तो तभी तुमने बाल बढ़ा कर, भंग पीना शुरू कर दिया था ?"

"..............!! मैं चुप बैठा रहा।

मुस्कराती-सी बोली—

"तब तो मुझे कहना होगा कि तुम्हारी उन बुआ ने तुम्हे गलत समझा है। यह सुनकर तो उन्हे भी अपनी राय बदलनी ही होगी। लड़की होने का सौभाग्य भी तुम्हें कैसे प्राप्त हो सकेगा ? इस देश की लड़कियाँ तो अति समझदार होती हैं। तुम तो हो एक जटिल,सन्धे

वोध शिशु !..........।" कहते-कहते उनकी आँखें डवडवा
एक ओर मुड़ कर उन्होंने साड़ी के छोर से आँखें पोंछ डालीं।
ने भर्राये गले से कहा—
कनक ! चाहे कुछ भी कह लो पर अव मुझसे अकेले चला नहीं
। चौपाल के उस एकान्त अंधकार में पड़े-पड़े कितनी वार मैंने
म-हत्या करने की वात सोची है। और कनक ! एक दिन तो मैं
जी में डूब मरने के लिये भी आधी दूर तक.... च........ला........
.......या........था।" कहते-कहते मैंने हाथ वढ़ाकर पास ही रक्खे
नक के उन ठंडे पैरों को जोर से पकड़ लिया।

"अ........नू........प !" रुकते-रुकते कहती अपने पैरों को खींचने लगी पर खींच न सकी तव विवश हो मेरे हाथों को थपथपाने लगी।

धीरे-धीरे वे उँगलियाँ स्थिर होकर मेरे हाथों पर जम गईं फिर कड़ी होती गईं और मेरे काँपते हाथों को जोर से पकड़ कर दवाने लगीं। जिन आँखों ने एक दिन मेरे उन हाथों पर आँसू गिराये थे, कनक की वही आँखें फिर झर उठीं।

वहुत देर तक हम दोनों उसी तरह वैठे अपने-अपने मन की विगलित करुणा और हृदय में एक दूसरे के लिये भरी ममता आँखों की राह वहाते रहे।

वे वोलीं—

"अनूप !"

"हाँ, कनक !"

"तुम जानते हो ऐसा क्यों हुआ !"

"क्या हुआ ?"

"यही कि तुमने मेरे पत्र का उलटा अर्थ क्यों लगाया ?"

"वताओ।"

"तुम अव तक मुझ पर विश्वास नहीं कर सके हो।"

"और तुम ?"

"विश्वास नहीं कर पाती तो इतनी रात गये इस एकान्त में कैसे आती ?" कहकर मुस्काने-सी लगीं।

फिर बोली—"अनूप ! बुआ तुम्हें ठीक समय पर मिल गईं। मां ने सब कुछ कह सुनाया है। वे न होतीं तो उस दिन जाने क्या होता अनूप !"

"क्या होता ?"

"अच्छा, छोड़ो उस बात को, आज तुम्हें एक वादा करना होगा अनूप।" कहते-कहते वह गंगा के किनारे गईं और दौड़ती-सी लौट आईं। उनकी अंजली में पानी था।

आदेश भरे स्वर मे बोलीं—"अंजली बांधो।"

मैंने अंजली बांध ली। अपनी अंजली का पानी मेरी अंजली में डाल कर बोलीं—"कहो कि अब कभी आत्महत्या का विचार तक नहीं करोगे। कहो ! कहो !"

और मैंने कहा—"नही करूंगा।"

वह पानी उसके मुंह पर छिड़कते मैं बोला—"और तुम जानती हो तुमने कितनी बड़ी बात आज कर डाली है ?"

"क्या बड़ी बात कर डाली है मैंने ?"

"अपनी अंजली का गंगाजल मेरी अंजली में डाला है !"

"तो।"

"कनक ! ऐसा होता है तब, जब हवनकुण्ड के सामने पास-पास आसन बिछाकर गांठ-से-गांठ बांधकर बैठते हैं। समझी ?"

"हिश !" लजाती-सी बोली।

"खैर ! मैं किसी से कहूंगा नहीं।"

अपनी अंगुलियों से अपनी आंखें छिपाती बोली—"बड़े वैसे हैं आप।"

'तुम' के स्थान पर उसके मुंह से 'आप' निकल गया सो अप्रतिभ-सी होकर एक ओर चल दी।

मैंने कहा—"अच्छा, अब चलें। मां अकेली बैठी

सोच रही होंगी !"

कनक लाज भरे कंठ से बोली—

"क्या सोचेंगी ?"

"कुछ सोचें, लेकिन यहाँ तक उन्होंने भी नहीं सोचा होगा कि इतने थोड़े से परिचय में कोई शिक्षित लड़की किसी के साथ गंगा तट पर अंजली में भरे गंगाजल का एकान्त विनियम कर लेगी।"

वह कंठ में कृत्रिम आक्रोश भर कर बोलीं—

"अब चुप भी रहेंगे !"

फिर सचमुच हम दोनों में से कोई भी न बोला। मुझे लगा जैसे मन में भरी सब कालिमा घुल पुंछ कर साफ हो गई है। मन में भरा समस्त अन्धकार मिट गया है। उस बात को याद करके आज भी मेरा रोम-रोम सिहर उठता है।

एक ऐसी तृप्ति ऐसी सम्पूर्णता लिये लौट रहा था जिसे आज शब्दों में कह पाना मेरे वश की बात नहीं है।

२२

गीत !

दूसरे दिन मैंने किसी भी तरह कनक को लौटने नहीं दिया। मेरी रुचि-अरुचियों के सम्बन्ध में माँ से पूछ-ताछ कर मेरे पसन्द की सब्जियाँ बनाईं। फिर मेरे आग्रह पर दुपहरी में ही माँ को रामायण पढ़ कर सुनाई, तभी मुझे लगा कि विगत वर्षों में उन्होंने संगीत का अच्छा अभ्यास कर लिया है। और साँझ होते ही पिछले दिन की भाँति वहीं गंगाजी के किनारे चलने के लिये उन्होंने कहा था, तभी माँ बोली—

"बिटिया! जल्दी लौट आना। चारों ओर चोर डाकुओं का डर है। आजकल पता नहीं क्यों मेरा दिल धड़कता-सा रहता है।"

"अच्छा माँ! जल्दी ही लौट आऊँगी।" कह कर वह चल पड़ी थी। हम दोनों चुपचाप गंगा की उसी रेती की ओर चले आ रहे थे जहाँ पिछले दिन बैठे थे।

उस रेती में कुछ देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। बैठा-बैठा मैं सोच रहा था—पता नहीं अब कब कनक का यह सान्निध्य प्राप्त होगा। कब उसका यह मीठा काँपता स्वर सुन सकूँगा। तभी मैं बोल पड़ा—

"कनक!"

"जी।"

"एक बात मानोगी?"

"क्या ?"

"मना तो नहीं करोगी ?"

"पहले बताओ तो।"

"पहले 'हाँ' करो।"

"अच्छा रही 'हाँ'।"

"तो गीत सुनाओ !"

"गीत !"

"हाँ गीत।"

"लेकिन यह तुम से किस ने कहा कि मैं गा लेती हूँ ?"

"यो तो मैंने आज सुबह ही जान लिया था जब तुम माँ को रामायण सुना रही थीं।"

"अच्छा सुनो। पता नहीं तुम्हें पसन्द आएगा कि नहीं।" कहती-कहती वे चाँदनी में चमचम करती गंगा की उन लहरों को देखने लगी। फिर उस वेणी को हाथ में ले कर गाने लगी—

"वन्दे मातरम्।

सुजलां सुफलां मलयज……।"

जाने कितनी बार कितने कंठों से इस गीत को सुना था ; किन्तु कमला के काँपते कंठ से मातृ-भूमि की उस वन्दना को सुन कर बलिदान और आत्म-विसर्जन का भाव जाग उठा था। लगा जैसे त्रिंशकोटि सन्तानों की जननी ! गंगा की सहस्र लहरों में प्रगट हो-हो कर कह रही है—तू भी तो है मेरी सन्तान ! कुछ कर, क्या मेरे लिये ? कायर कापुरुष ! और मन-ही-मन गुनगुना उठा था—"जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। जननी…… …।"

लगा जैसे उसी जननी के उद्धार के लिए हाथ में लाठी लिए गांधी डाण्डी यात्रा कर रहा है……वे फाँसी के तख्ते—फाँसी के फंदे में पर-पर टूटती गर्दनें…… …गोली से मरते क्रांतिकारी देश-भक्त……सत्याग्रह ! कारागार……खून……फाँसी—

बनरा का यह गीत सुन कर मैं स्तब्ध-सा रह गया। तभी वे बोलीं—
"क्या हुआ ?"
"अपने स्वरो मे कैसे भर सकी ऐसा भाव ? क्या सचमुच तुम इतना प्यार करती हो देश को ?"
"..... .....।" वे कुछ देर चुप बैठी रहीं। फिर रुँधे कंठ से बोलीं—
"क्या सोच रहे हो ?"
"सोचता तो मैं दिन-रात हूँ पर लगता है इस सोच-विचार का कोई ओर-छोर नही है।"
"कुछ बताओ भी तो क्या सोचते रहते हो ?"
"सुन कर 'लड़की' 'पर्दे की रानी' 'अबोध शिशु' 'जटिल बालक' के बाद और किसी संज्ञा का अविष्कार कर डालोगी।"
"अच्छा, कुछ नही कहूँगी अब बताओ।"
"कनक !"
"जी !"
"कनक ! मैं दिन-रात सोचता हूँ कि मेरी इस छोटी-सी उम्र में अब तक जितनी विडम्बनाएँ मेरे साथ घटी हैं सो शायद ही किसी के साथ घटी होंगी।"
"कैसी विडम्बनाएँ ?"
"बचपन मे भगवान् की खोज करने के लिये निकला और पड़ गया पाला भूत-चुड़ैलों की पुजारिन, एक बंगालिन से। उस हॉकी के मैच के दिन मैनेजर की कार में स्टिक मारी किसी और ने और बेंत खाए मैंने। उस दिन बीमारी के बाद यहाँ आया था घूमने और जा पहुँचा डाकुओं के गिरोह मे।
मैं बचपन मे कभी किसी से हार नही मानता था। यहाँ तक कि एक बार गंगाजी में डूबते समय मुझे अपने मरने की इतनी चिंता नही थी जितनी मरने से पूर्व बरसाती गंगा की धार को जीत कर किनारा न पाने का दुःख था। सुन कर कनक हँसने लगी। मैं कहे जा रहा था—"बनना

चाहा था विद्रोही और वन गया चौपाल का चमगीदड़। चाहा था जीवन में एकाकी रहूँगा। निर्द्वन्द, निश्चिन्त। पर लगता है कि वुआ और तुम्हारे विना मेरी कोई गति ही नहीं है। मैं सोचता........।"

वीच ही में कनक बोलीं—

"कहिए।"

"जिसे तुम "निर्द्वन्द, निश्चिन्त' का नाम देते हो न, वही है तुम्हारा सव से वड़ा स्वार्थ। तुम्हें मैं 'आत्मगत' कह सकती हूँ।"

"दे दिया न आपने एक नया नाम 'आत्मगत'" कह कर मैं हँसने लगा किन्तु वे रुकी नहीं। अति गम्भीर हो कर बोलीं—"आज अंग्रेजी शासन होने के कारण देश में हाहाकार मचा है। अत्याचार उत्पीड़न से भारत माँ कराह रही है और तुम निश्चिन्त हो जाना चाहते हो। लड़कियाँ इतनी जल्दी अपना हृदय नहीं खोलतीं लेकिन मैं आज कहती हूँ उस दिन हॉकी के मैच में जो रूप तुम्हारा देखा था उसे देख कर मैं अपना सव कुछ खो वैठी थी।

उस रात को जा कर उस अत्याचारी हेडमास्टर से जिस प्रकार क्षमा-पत्र लिखा कर पिताजी और अपने अपमान का वदला लिया था सो उसी दिन तुम्हारे उस नन्हें शरीर में भरी शक्ति और शौर्य के दर्शन कर के मैं रीझ उठी थी। चाहती थी कि किन्तु ....।

उस दिन इलाहावाद के कम्पनी वाग में एक ऐसी घटना घटी कि मुझे अपना पूर्व निश्चय वदलना ही पड़ा। और मैंने शादी कर ली दूसरे के साथ।"

सुन कर मुझे लगा था जैसे मेरे समस्त शरीर में काले-काले विच्छू आ-आ कर चिपट गए हैं। उनके डंकों की असह्य पीड़ा से मैं विलविला उठा। तभी मैं कराहता-सा वोला—"लेकिन तुम ने यह पहले क्यों नहीं कहा?"

"वही कहने तो यहाँ तक चली आई हूँ, अनूप!"

"कव? कहाँ? किस के साथ शादी हुई थी? लेकिन मैं क्या करूँगा

अब यह सब सुन कर। बस कनक ! बस !! तो यह है मेरे जीवन की सब से बड़ी विडम्बना। सब ......।" कहते-कहते मेरा कंठ रुकने-सा लगा।

तभी वे बोली—

"अनूप ! तुम न सुनना चाहो तब भी मुझे सुनाना ही है। जिस बात को सुनाने यहाँ तक चली आई हूँ सो बिना सुनाये लौट कैसे सकूँगा ? अनूप ! शादी मैंने हाड़-मांस के व्यक्ति के साथ नहीं समूचे देश के साथ कर ली है। इलाहाबाद के उसी कम्पनी बाग में ! उसी समय !! जब विदेशी शासन के टुकड़ों पर पलने वाले नर-पिशाचों ने उस महान् क्रान्तिकारी, भारत माँ के सच्चे सैनिक को मेरे देखते-देखते गोलियों से भून डाला था, उस उतने बड़े अपमान को मैं किसी भी प्रकार न सह सकी—शेखर दादा ने कैसे लड़ते-लड़ते अपना बलिदान किया था सो मैं एक पल के लिए भी नहीं भूल पाती।

लगता है मानों उनकी छाया दिन-रात मेरा पीछा करती रहती है। कलकत्ते में आकर नाम-मात्र के लिए मैं यूनिवर्सिटी Join करूँगी। असल में मैं भी उसी पार्टी में शामिल हो गई हूँ जिन्होंने त्रिशकोटि संतानों की माँ का दुःख दूर करने के लिए मर मिटने की शपथ खा ली है। मैं...   ...।"

पता नहीं कनक क्या-क्या कहे जा रही थी ? मैं कुछ भी न सुन पा रहा था। मैं अपने ही में डूब-सा गया था। सोच रहा था—कितनी महान् है यह कनक ! और मैं कितना क्षुद्र ! कृमिकीट-सा वर्षों से अपनी मात्र निजी समस्याओं में उलझा हूँ और वह व्यक्तिगत सीमाओं को तोड़ कर सोच रही है समूचे देश की बात। विदेशी शासन की चक्की में पिसती राष्ट्र के त्रिशकोटि इन्सानों की बात।

लगा जैसे वह पर्वत की ऊँची चोटी पर खड़ी है और मैं उसी पहाड़ की अन्धेरी तलहटी में खड़ा हूँ।

तभी वह बोली, "अच्छा अनूप! अब चलो। माँ घबरा रही होंगी।'
सुनकर मैं चुपचाप खड़ा हुआ फिर घर की ओर चलने लगा।
सोचने लगा—कल इस समय लौटा था कितनी तृप्ति और सम्पूर्ण लिए हुए और आज अपनी क्षुद्रता की आत्मग्लानि लिए जा रहा अपनी ही आँखों में गिरा हुआ !

२३

फाँसी !

उस दिन जिसके काँपते स्वर की एक ललकार ने—"अकेले अनूप ! अकेले !! एक गोल !" ने मुझे विक्षिप्त बनाकर मेरे हाथों से एक गोल बनवाया था, उस हॉकी के कोर्डीगन में विजयी बनाया था, सो देश-भक्ति के रण प्रांगण में वह मुझे अछूता कैसे छोड़ देती ? उसके देश-भक्ति के गीत सुन-सुनकर छाती में ऊर्ध्वमुखी ज्वाला-सी धधक उठती थी । क्रान्ति और विद्रोह की जो चिनगारी बहुत दिनों से मेरे अन्तस्थल के किसी निम्न स्तर में बुझी-सी पड़ी थी सो धीरे-धीरे सुलगने लगी ।

एक दिन वह सचमुच ही मेरे अन्तस्थल में ज्वालामुखी बनकर धधक उठी । उस चिनगारी को कनक ने कैसे ज्वालामुखी बना डाला था सो याद करके आज मैं स्वयं अचरज में डूब जाता हूँ । अन्त में हुआ यह कि कनक के साथ मैं भी उस हिंसक क्रान्ति की लहर में बहने लगा ।

उन दिनों मैं कनक के साथ कलकत्ते में रहता था । रुपये के बिना पार्टी का काम रुक गया था । एक दिन शाम को दुखी क्लान्त-सी कनक लौटी । उसका मुँह सफेद पड़ गया था । चुपचाप सील भरी उस कोठरी में पड़ी एक चटाई पर गिर पड़ी । घर में उस दिन चावल तो थे नहीं सो अकेली मूँग की दाल ही अंगीठी पर रक्खी बटलोई में उफन रही थी ।

मैं चुपचाप कनक के पास आ बैठा । उस पीले हाथ की पत

याँ हाथ में लेकर बोला—

"कनक !"

"जी !"

"क्या हुआ ?"

"बहुत ही डिसएपोन्टिंग न्यूज है।" टूटते स्वर में बोली।

"क्या हुआ बताओगी।" घबराते हुए मैंने कहा।

"मि० पाल समस्त यू० पी०, बिहार में घूम कर लौट आये हैं।

"क्या कुछ भी नहीं बना ?"

"नहीं।"

"फिर।"

"जनता का पार्टी पर विश्वास नहीं रहा है। कहीं न कहीं कुछ एक्शन करना होगा।"

"हाँ, यही होगा।"

"अनूप !"

"कहो।"

"कुछ करो न।"

"मैं।"

"हाँ तुम। अनूप ! तुम अकेले कर सकते हो।" कहते-कहते वे मेरे अति निकट आ गई। उनकी सांसें जोर-जोर से चल रही थीं। मेरा हा अपनी आँखों पर रखकर कहा—

"अनूप ! मि० पॉल कह रहे थे यदि हमारे पास आज दस हज रुपये भी होते तो हम उन साथियों को छुड़ा लेते। जिनके केस की प तारीख है। कोर्ट से सेण्ट्रल जेल की ओर लौटते समय "एक्शन" क है। कल शाम तक रुपया चाहिए। बोलो अनूप ! कर सकोगे कु

"........" मैं चुप रहा।

"हाँ करूंगा।" कहकर मैं खड़ा हो गया।

रात भर उसी सील भरी कोठरी में घूमता रहा। कनक

दो बजे तक इधर से उधर करवटें बदलती रही फिर उसे झपकी-सी आ गई।

मैं चुपचाप रात की उस अंधियारी में कोठरी से निकल आया। फिर दिन के ११ बजे तक कलकत्ते की गलियों में निरउद्देश्य घूमता रहा। तभी सामने एक जौहरी की दुकान दिखाई पड़ी। सामने एक कोने में तिजोरी रक्खी थी। द्वार के सामने शीशे की अलमारी में सोने का माल चमचमा रहा था।

वह दुबला-पतला मारवाड़ी ऊँघ रहा था। उसकी गद्दी के नीचे ही एक प्रौढ़ स्वर्णकार गाल फुला-फुलाकर फूंकनी से आग जला रहा था। उस आग में नीली-पीली लपटें उठ रही थीं।

जैसे मन ने कहा—"यही है तेरा शिकार! छीन! झपट!"

सोचने लगा—आज शाम तक!..........दोपहर हो गया। फिर? बढ़! बढ़!!—और मैं उस दुकान पर जा पहुँचा।

उस दुकान की पिछली दीवाल में एक छोटी-सी कोठरी थी। उसका द्वार खुला था। उसे देखते ही बिजली की कौंध की तरह एक विचार आया और मैंने धीरे से पिस्तौल निकालकर उस सुनार की ओर तान दी। बाँये हाथ का छुरा उस मारवाड़ी की छाती पर रखकर कहा—"चलो, उस कोठरी में! चलो! उठो!!"

उस सुनार से मारवाड़ी का मुँह बन्द कराके उसी की पगड़ी से बंधवा दिया। और सुनार का मुँह गद्दी पर पड़ी चादर से बन्दकर हाथ-पैर बाँधकर उसी कोठरी की साँकल चढ़ा दी। एक मिनिट ही में उस तिजोरी से जितना बटोर सका बटोर लिया। तब गली के कोने पर खड़ी टैक्सी में बैठकर भाग आया था। यह मेरा पहला 'एक्शन' था।

कोठरी में घुसते-ही देखा कनक चटाई पर पड़ी कुहनी पर सिर रखे उदास लेटी है। मैं जाकर पास बैठ गया। माथे पर हाथ रखकर देखा उसका माथा गर्म तवे की तरह तप रहा था।

रुखी हुये कंठ से बोली—"क्या हुआ?"

"हाँ, कनक !"

'हाँ' सुनते-सुनते वह उठने लगी लेकिन उठते-उठते मेरी गोदी में गिर पड़ी, मैंने सैकड़े हज़ार वाले करेंसी नोट्स की कई गड्डियाँ जेवों से निकाल कर सामने रख दीं। उन्हें देखकर वह पागल-सी हो उठी।

उसने दोनों वाहें मेरी गर्दन में डाल दीं। कितना जोर था उन दुवली पतली स्निग्ध कोमल वाहों में। उन वाहों की पकड़ में मैं झुक-सा गया। और ·······। कितनी मादकता ! कितना उन्माद कितनी आत्मीयता-सी थी उस एक स्पर्श में। जीवन का प्रथम स्पर्श। मेरा रोम-रोम सिहर उठा।

लगा जैसे सब कुछ पा लिया है। कनक लम्बी-लम्बी साँसें भर उठी थी। उसने हाथ ढीले कर दिये। उसका हाथ मेरी कमर में जाकर लिपट गया और दूसरे से उसने मेरा एक हाथ थाम लिया। तभी सुन पड़ा गली में घड़घड़ाती मोटरें दौड़ी जा रही हैं।

हम दोनों हड़वड़ाकर उठ वैठे। मैंने झपट कर उन गड्डियों को जेवों में डाल लिया और किवाड़ों से गली की ओर झाँका। पुलिस से भरी लारियाँ घड़वड़ाती चली जा रही थीं। शायद उन्होंने समझा होगा कि दिन-दहाड़े अकेले दूकान को लूटने वाला साहसी क्रान्तिकारी इस गन्दी गली में न रहकर किसी गगनचुम्बी होटल में ठहरा होगा।

उसी रात मि० पॉल को सूचना दी गई। फिर दूसरे दिन का प्लान बना। साथियों को छुड़ा लिया गया। पुलिस का एक सिपाही मारा गया। मि० पॉल का वाँयाँ कंधा टूट गया। गोली ठीक जोड़ में आकर लगी थी। फिर जीवन में जाने कितनी वार यही हुआ था। वाद में कनक को टी० वी० हो गया।

तव इसी मंसूरी के उस 'रिवीरा' होटल में आकर हम दोनों ठहरे थे किन्तु प्रायः हमारा सारा समय वीतता था सामने वाली उस पहाड़ी की चोटी पर। जाने कितनी रातें कनक के सान्निध्य में उस चोटी पर मैंने विताई थीं।

उसकी उन पतली उंगलियों को हाथ में लिये उसके कितने गीत सुने थे। उसके कांपते कंठ की आवाज ऊँची होकर वेला की खिंची तान सी मुझ में उन्माद-सा भरने लगती थी।

उसकी आवाज में थी—बरसाती रात में वीणा की मीड़ जैसी सिहरन। कैसा था उसके स्वर का वह प्रकम्पन जो सम्मोहन की भाँति मुझ पर छा जाता था।

और वह मर्मभेदी अलाप, जैसे बरसाती रात की अँधियारी को चीरती बंसी की व्यथा भरी पुकार हो।

जीवन के ये तीन मास जो इस मंसूरी में बिताये थे, मैं कभी न भूल सकूँगा। एक-एक रात और एक-एक दिन की बातों को लेकर लिखने बैठूँ तो लगता है शायद जीवन भर बैठा लिखता ही रहूँ किन्तु वह सुखद स्मृति आज मेरे लिये मौत बन गई है—

आज सोचता हूँ—कनक ! कैसे कर सकी तुम यह सब ? क्या कोई इस प्रकार भी अपने को बदल सकता है ? तुमने एक दिन बनारस में अपनी माँ को रामायण पढ़कर सुनाई थी। उसकी वह चौपाई—'हा ! रघुनन्दन ! प्रान प्रीते ! तुम बिन जियत बहुत दिन बीते' जैसे मेरे जीवन का आज सत्य बन गई है। जैसे मेरे प्राण दिन-रात यही जपते हैं—"तुम बिन जियत बहुत दिन बीते।" और तुम मना रही हो रंग-रलियाँ। नीच ! विश्वासघातिनी !

कहाँ गया तुम्हारा वह देश प्रेम ? मुझ में समा जाने की साध क''''न''''क यह तुमने क्या किया ? क्या किया क''''न''''क ?

फिर कुछ वर्षों ही में कनक बिल्कुल स्वस्थ हो गई। मैं बनारस में गिरफ्तार हुआ था। चार वर्ष तक मुकद्दमा चला था। मुझे फाँसी का दण्ड मिला है यह खबर घर पहुँची थी। खबर सुनकर माँ का दिल टूट गया था। कुछ दिनों में हृदय रोग से उनकी मृत्यु हो गई थी, फिर पिताजी भी चल बसे थे। जेल में मिलाई करने बुआजी आई थीं—छलछलाती आँखें, पीला मुरझाया हुआ चेहरा।

ऽ में कितनी पीड़ा कितना अपनापा भरकर कहा था उन्होंने—
! तुम्हारी गिरफ्तारी की बात सुन कर माँ को मर्मान्तक पीड़ा हुई
र भी मरते समय उन्होंने कहा था—"मेरे लाल ने जो किया है सो
पास कौन कर सका है ?"

"पिताजी मन ही मन रोते थे और ऊपर से माँ को धीरज बँधाते थे।
बस्ती में तुम्हारी वीरता के गुन गाते थकते नहीं थे। और मैं अनूप
सोचती·······।" कहते-कहते वे रो पड़ी थीं।

फिर आँचल से आँसू पोंछकर बोलीं—अनूप ! सोचकर आई थी
या, कि मैं रोऊँगी नहीं सो किसी भी तरह अपने को रोक न पाई।"

मैंने काँपते कंठ से कहा—"बुआ ! तुम मेरे लिये क्या सोचती हो ?
बहुत बुरा समझती होगी मुझे।"

"मैं मैं ··सोचती हूँ अनूप ! अपना पेट पालने के लिये तो सभी
दुःख उठाते हैं लेकिन देश के लिये जो तुम और तुम्हारे साथी सह रहे हैं
सो भैया व्यर्थ नहीं जायेगा। गाँवों के उन कच्चे मकानों में जब तुम्हारे
फोटो चिपके देखती हूँ तो खुशी में भर उठती हूँ।"

"जब देश की माताएँ अपने नन्हें मुन्नों को हाथ जुड़ाकर तुम्हें प्रणाम
कराती हैं, उसे देखकर लगता है जैसे मैंने जन्म-जन्म के पुन्यों का फल
पा लिया है।"

"और हाँ, अनूप ! वह जो गाँव में एक बार आई थीं। तुम्हारे साथ
काम भी किया था। उनकी शादी हो गई है। सुना होगा तुमने !"

सुनकर लगा जैसे बिजली का शॉक लगा हो। मैं लड़खड़ा-सा गया
फिर सारा साहस बटोर कर बोला—"किसके साथ हुई है उनकी शादी ?"

"किसी बड़े आदमी के साथ। बहुत बड़ा व्यापार है उसका
आनरेरी मजिस्ट्रेट भी है वह।"

"बुआ !" कहते-कहते मैंने अपना सिर उन लोहे की मोटी सल

पर पटक लिया था। तभी बुआ ने काँपते हाथों को उन सलाखों में डाल कर मेरा सिर थपथपाते कहा था—"सह लो भैया ! सहना ही होगा !! हे रा''''म !" कहते-कहते वे रो पड़ी थीं।

जेल के वार्डन का स्वर सुनाई पड़ा—"बस ! बस करो ! टेम हो गया।"

बुआ ने मेरा सिर जकड़ लिया। शायद वे सोच रही होंगी कि आज के बाद जो सिर फाँसी खाकर निर्जीव निष्प्राण हो जायेगा, जिसे उन्होंने एक दिन गोद में रखकर दुलराया था। सो उसे जितने क्षण भी वे पकड़ सकें, पकड़े रहे, जकड़े रहे।

तब मैंने किसी प्रकार बुआ के उन काँपते हाथों से अपना सिर छुड़ाया था। सिर छुड़ाकर मैं अलग हट गया। तब जेल के वार्डन उन्हें घसीट कर वहाँ से हटा ले गये थे।

घिसटते-घिसटते वे व्यथित टूटे स्वर में पुकार रही थीं—"अनूप ! अनूप !! भैया ! भैया !!"

मैंने सारी शक्ति से उन लोहे की सलाखों को झकझोर डाला था और फिर विवश होकर उन्हीं सलाखों पर सिर पटकने लगा था। तब कई सिपाहियों ने मिलकर मुझे जमीन पर पटक दिया था।

फाँसी के चार दिन शेष थे। कारावास की मनहूस साँझ थी। मैं चुपचाप फाँसी की कोठरी में बैठा आकाश की ओर देख रहा था। तभी परिचित कंठ सुनाई पड़ा—"पण्डित !!"

सफेद दाढ़ी और उलझे बालों में चमकती वे दो आँखें दिखलाई पड़ीं। वार्डन से घिरे बंसी काका मेरी कोठरी की ओर आ रहे थे। चलते-चलते बड़ी सावधानी से जादूगर की भाँति कागज की एक पर्ची मेरी कोठरी में फेंकते गये। मैंने झपटकर उस पर्ची को उठा लिया।

उसमें उसी रात को जेल से निकल भागने की विधि के सिलसिले में

विस्तार से लिखा था।

पढ़ कर सोचने लगा—कौन है ऐसा मेरा आत्मीय जिसने मुझे छुड़ाने के लिये लाखों रुपये दे कर जेल के उन अधिकारियों को खरीद लिया है? जो मुझ सरकार के शत्रु को भी जेल से निकल भागने का अवसर दे रहा है। सोचता रहा और आज तक सोचता आ रहा हूँ पर अपने उस आत्मीय को आज तक न जान पाया हूँ।

२४

मुक्ति !

जेल का घंटा""टन ""टन""कर के बारह और बजा और शान्त हो गया। लगा जैसे वह घंटा कह रहा है""भाग ! भाग ! यही हैं वे निश्चित घड़ियाँ ! तभी बन्सी काका और मैं दोनों ही जेल की उस परिधि को तोड़ कर निकल भागे थे किन्तु निकल भागने की उस निश्चित विधि में थोड़ी भूल हो गई और जेल का वह घंटा फिर घनघन"""घन"""घन """बज उठा।

उसका इस प्रकार बजना किसी कैदी के निकल भागने का संकेत था। जेल में दो पिस्तौलें पचास कारतूस के साथ बन्सी काका ने किसी प्रकार प्राप्त कर ली थीं सो हम दोनों के पास पच्चीस-पच्चीस कारतूस थे। पुलिस फायर करती पीछे-पीछे भाग रही थी और हम दोनों दम तोड़े भागे जा रहे थे।

तभी बन्सी काका हाँफते-हाँफते बोले—"पण्डित ! अब तुम जाउ !"

"सो नहीं होगा काका !" मैंने रुकते-रुकते कहा।

"जन्म भर पाप करे हैं अब बामन को बचाइ के एक पुन्य तो करलेन देउ पण्डित !" एक पेड़ का मोरचा लेते बन्सी काका बोले—"जाउ पंडित ! मेरी जाँघ टूट गई है !! जाउ पण्डित ! जाउ ! !!" कहते-कहते बन्सी काका उसी मोर्चे पर जमकर ठाँय ! ठाँय !! फायर

इधर से जवाब मिलते ही किराये के वे देशद्रोही कुत्ते पेड़ों का मोर्चा लेकर रुक गये।

तभी मैंने देखा बंसी काका का वह जेल का जाँघिया खून से भर गया है और खून बह-बहकर टखने की ओर आ रहा है। कुछ कारतूस बंसी की ओर फेंक कर मैं भाग निकला।"

दूसरे दिन अखबारों में पढ़ा था कि बंसी काका पच्चीस-तीस कारतूसों के सहारे बृटिश सरकार की एक बड़ी टुकड़ी को दो घण्टे तक रोके रहे थे और इस तरह उन्हें रोककर मरते-मरते उन बंसी काका ने मेरे प्राण बचा लिये थे।

भागते-भागते सबसे पहिले मैंने सोचा कि सीधा कनक के पास जाऊँ और देशभक्ति की डींग मारने वाली उस कनक का गला घोंट दूं।

जो एक दिन मेरी सब कुछ थी। जिसने विदेशी सत्ता को उलट फेंकने के लिये तिल-तिलकर मर मिटने की सौगन्ध खाई थी, और यह सुनते ही कि मुझे फांसी लगने वाली है, उसने चुपचाप शादी कर ली। विश्वासघातिनी !!

* * *

जेल में फांसी की कोठरी के पास ही एक घना पेड़ और एक बड़ा गढ़ा था। पता नहीं वह वहां क्यों और कब खोदा गया था किन्तु एक किम्वदन्ती कई मुखों से कई प्रकार से मैंने जेल में जाकर सुनी थी— फांसी के किसी कैदी ने उस पेड़ की जड़ से सिर मार-मार कर अपनी झोपड़ी फोड़ ली थी और उसने अपने प्राणों को इस प्रकार पिंजड़े से निकल भागने वाले पक्षी की भांति मुक्त कर लिया था।

और यह सुना था कि अब उस ओर पहरा देते समय उन अशिक्षित पहरेदारों के प्राण कांपा करते हैं। उन पहरेदारों में से अनेक जेलर के

समस्त रोये गिड़गिड़ाये भी थे। उस फटी खोपड़ी वाले प्रेत का भयानक और वीभत्स चित्र खींचकर बताया था कि उन्होंने उसे वहाँ घूमते देखा है।

वह प्रेत वहाँ था या नहीं सो तो वह जगन्नियन्ता ही जाने पर उन जेलर साहब ने उस भय के भूत का पूरा-पूरा लाभ उठाया। भूत का भय खाकर जेल के उस कोने की ओर कोई देखने तक का साहस न कर पाया। सो उसी कोने की ओर रस्सियों की दो सीढ़ियाँ डालकर पेड़ की घनी छाया में खड़ी जेल की उस ऊँची दीवाल को मेरे लिये सुगम बना दिया था।

बाद में सुना था कि उनको इस 'कृपा' के लिये जेलर को एक लाख रुपया दिया गया था। और यह कि एक लाख में केवल मेरा सिर ही बच सकता था। बंसी काका का सिर बचाने के लिये एक लाख रुपया और चाहिए था। यह सब बात बंसी काका के किसी साथी द्वारा ही बताई गई थी। साथी ने वह पर्ची बंसी काका को दी और काका ने वह पर्ची मुझ तक पहुँचा दी थी। जब काका के साथी एक लाख रुपया नहीं जुटा सके तो उन्होंने इस अवसर से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उनके साथियों ने लोहा काटने की आरी और दो पिस्तौलें मय पचास कारतूस के भिजवा दीं थीं।

बारह बजने के कुछ देर बाद एक पहरेदार आया और धीरे से मेरी कोठरी का वह बड़ा लोहे का ताला खोला। वह मुझे उसी कोने की ओर ले गया! वहाँ जाकर जेल से उद्धार कराने वाली उस सीढ़ी की ओर संकेत किया।

यह तो भगवान् ही जाने कि ताला खोल कर मुझ फाँसी के कैदी को भगाने के लिये उस गरीब पहरेदार को कितना मिला होगा। यह भी नहीं जानता, कि मिल चुका होगा या बाद में काम होने पर उसे कुछ मिलने की आशा थी पर इतना मैंने अपनी आँखों से देखा कि उस गरीब की बंसी काका ने गर्दन दबाकर उसी समय उसे त
[illegible] से दिया था।

वंसी काका तब तक उस आरी से लोहे की चार सलाखें काटकर वाहर आये थे। उन्होंने पीछे से आकर उस पहरेदार का मुंह दवाया। वह हलके कांपते स्वर में 'भूत' कहता-कहता वहीं वेहोश होकर गिर पड़ा था। वंसी काका ने उसका मुंह और हाथ-पैर वांधकर वहीं डाल दिया। हम दोनों उन सीढ़ियों पर चढ़कर जेल से वाहर आ गये।

उस पिछली दीवाल के पीछे पहरा देने वालों को जेलर डांट रहा था। लगता था उस डांट द्वारा निकल भागने के लिये जेलर द्वारा एक अवसर दिया जा रहा था सो हम दोनों ही निकल भागे। किन्तु एक की जगह दो को भागते देखकर जेलर की खरीदी गई वह 'कृपा' हमारे लिये 'अकृपा' वन गई।

जेल से कैदी के निकल भागने का संकेत—वह घन-घन'''घंटा वज उठा। सिपाहियों ने पीछा किया। अन्त में वंशीकाका ने अपने प्राण देकर मुझे वचा लिया।

दूसरे दिन अखवार में यह भी पढ़ा था कि एक संदिग्ध व्यक्ति जेल के पास घूमता हुआ पुलिस की गोली से मारा गया। शायद वह वंसी काका का वही साथी रहा होगा जिसके द्वारा मुझे वचाने की वात चली होगी।

इस दुनिया से जाते समय अपने साथ वह यह रहस्य भी लेता गया कि इस संसार में कौन है वह मेरा ऐसा आत्मीय, जिसने डाकुओं से सम्वन्ध स्थापित करके उनके द्वारा जेलर तक एक लाख रुपया पहुंचाया और मेरे प्राण वचा लिये। कौन है वह ? आज तक मेरे लिये यह रहस्य ही वना है !

सोचने लगा—भगवान् की सृष्टि में मनुष्य के भी कितने प्रकार हैं ? एक वह भी है जिसने मेरे लिये इतना सव कुछ किया फिर भी अपना अहसान जताने अव तक मेरे सामने नहीं आया। और एक यह कनक है !

और वह बुआ ! तो क्या बुआ ने ही किया है यह सब कुछ ? पहिले भी तो अपने सारे जेवर बेचकर दरोगा जी को रुपये दिये थे किन्तु नहीं ! नहीं !! सो नहीं ! यदि उन्हें कुछ भी पता होता तब उस प्रकार रोती क्यों ? उस दिन मिलाई के समय मिलने पर कुछ संकेत न करती ? फिर कौन है वह ? कौन ?—

सोचते-सोचते मैं अनिश्चित दिशा की ओर बढ़ा जा रहा था ।

२५

स्नेह !

सोचा था कि सबसे पहिले कनक के पास पहुँचूंगा किन्तु वह कहां है सो किससे पूंछू ? तब सीधा चल पड़ा बुआ के गांव की ओर। दो दिन का भूखा प्यासा, हारा थका जब उस गांव के पास पहुँचा तब तक सूरज डूब चुका था और उस गांव को रात की काली चादर ने ढक लिया था।

मैं चुपचाप बुआ के घर में घुसा। एक बिल्ली टूटी दीवाल से छलांग कर नीचे कूदी और मैं कांप गया। उस घर में अंधेरा था। रात की अंधियारी में उन कमरों के झुण्डों को देखा ! सब पर ताले अपनी मूक भाषा में कह रहे थे—वे यहाँ नहीं हैं ! तुम लौट जाओ ! अभागे लौट जा !!

मैं वहां उस अंधकार में—खड़ा-खड़ा उन स्थानों की दिशा का अनुमान लगाने लगा जहाँ एक दिन बुआ ने मेरे बैठने के लिये खाट बिछाई थी, जहाँ बिठाकर दूध पिलाया था। लगा जैसे अन्धकार में खड़ी बुआ कहीं अपनी उन्हीं स्नेहभरी आँखों से मुझे देख रही हैं। पता नहीं कब तक मैं वहीं चुपचाप खड़ा रहा फिर निराश होकर किसी प्रकार लड़खड़ाता बाहर आया।

उस गांव में दूसरी बार मैं आया था। मैं नहीं जानता था कि उनके पड़ौस में कौन रहता है। भूख के मारे प्राण निकले जा रहे थे प्यास भी कम नहीं थी सो किसी प्रकार भी मैं अपनी भूख प्यास मिट

लेना चाहता था। इसी अभिलाषा को लिये बुआ के पड़ौसी के द्वार पर कुछ देर के लिये ठिठक-सा गया।

तभी—मैंने देखा कि गली से आती हुई एक काली छाया ने उस पड़ौसी के घर में प्रवेश किया। फिर मुड़कर वह खड़ी हो गई। किसी ने बेला के खिंचे स्वर की भाँति कंठ में मधुरता घोलकर पतले कण्ठ से कहा—"कौन हैं आप? किसे चाहते हैं?"

इस गाँव में इस स्वर और शिष्टता की मुझे आशा न थी सो मैं आश्चर्य-चकित हो पत्थर की मूर्ति की भाँति वहीं खड़ा रह गया।

फिर कुछ संतुलित होकर बोला—"इस घर में जो रहती थीं वे कहाँ हैं। क्या इलाहाबाद चली गईं?" तब वे बोलीं—

"आप कहाँ से आये हैं।"

"उनका सम्बन्धी हूँ।"

"सुनकर वे कुछ देर खड़ी रहीं, फिर बोलीं—"अच्छा, आप मेरे साथ आइये!" मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया। लम्बी पतली गली-सी पार करके मैं घर के चौक में आ पहुँचा।

घर में छोटा-सा कुँआ था। कुयें के पास-ही पानी से दलदल-सा हो गया था। वहाँ पास-ही सीढ़ियाँ थी। वे सीढ़ियों पर चढ़ने लगीं और साथ-ही मुझे भी उधर ही बढ़ने का संकेत किया।

ऊपर छत पर एक छोटी-सी कोठरी थी। उन्होंने किवाड़ खोलकर दिया जलाया। एक छोटी-सी चारपाई निकालकर बाहर डाली और उस पर उन अभ्यस्त हाथों ने दरी चादर बिछाकर सिरहाने की ओर तकिया रख दिया। दीया के प्रकाश में वे मुझे पहिचानने-सी लगी।

मेरी दाढ़ी मूँछ बढ़ रही थी किन्तु पहिचान लेने में मेरी वह बढ़ी हुई दाढ़ी मूँछ किसी भी प्रकार बाधा न पहुँचा सकी।

वे बोलीं—"दोदी गाँव के रिश्ते में मेरी बड़ी बहिन होती हैं। मुझे कुछ शक-सा था सो इसी लिये मैं आपको यहाँ ले आई थी। नही तो सब सम्बन्धी बाहर चौपाल पर ही टिकते हैं।"

"…आप मुझे जानती हैं ?"
"…आपको ?"
"…जी !"
"बहुत अच्छी तरह ।"
"सो कैसे ?"
"दीदी ने आपके बारे में सब कुछ सुनाया था । लेकिन……!"
"लेकिन क्या ?"
"कहती थीं—फाँसी… !"
"हाँ फाँसी ही ! मैं जेल से निकल भागा हूँ ।"
"निकल भागे हैं ?"
"हाँ, किन्तु मुझे पहिचाना कैसे ?"
"मैं क्या, आपको तो आज सारा देश ही पहिचानता है ।"
"सो कैसे !"
"घर-घर में आपके चित्रों की पूजा होती है । उधर देखिये ! दीये के उस धुंधले प्रकाश में ।"

मैंने देखा—जेल की सीखचों के अन्दर खड़े एक कैदी का चित्र था । फिर मैंने ध्यान से देखा—वह मेरी आकृति से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

मैंने रुकते-रुकते पूछा—"मुझे यहाँ देखकर आपको डर नहीं लगता ?"

"अपने लिये तो नहीं, हाँ ! आपके लिये अवश्य लग रहा है ।"

मैं मन ही मन सोचने लगा—कौन है यह ? इनके वेश-भूशा, भाषा-भाव और कंधों पर पड़ी इन दो चोटियों से तो नहीं लगता कि यह सदा-सदा से इसी गाँव में रहती आई हैं । तभी नीचे से काँपता-सा कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा—

"सत्तो !"

"आई अम्मा !" कहती-कहती वे जाने लगीं । फिर मुड़कर बोलीं—"क्षमा करना, अभी आती हूँ ।"

आकाश में एक ओर चाँद निकल रहा था । मैं उस छोटी-सी चार

पाई पर पैर पसारकर लेट गया। कितने वर्षों बाद लेटने के लिये लच-कती-सी चारपाई मिली थी।

सोचने लगा—कौन है यह ? क्या इस गाँव में सौन्दर्य की टकसाल है जहाँ सिक्कों के स्थान पर सौन्दर्य ढाला जाता है ? साँवला रंग, दीये के धुंधले प्रकाश में चमकते स्निग्ध गाल। और ठोड़ी पर चमकते नन्हें दो तिल। वे दो कजरारी लजाती-सी-आँखें, माथे पर सम्भाल के लगाया गया सिंदूरी टीका, और वह खिचा हुआ मीठा कंठ स्वर सुनकर रोम-रोम सिहर-सा उठता है। क्यों लग रहा है यह कण्ठ इतना मधुर-सा ? इसलिये कि वर्षों बाद इस स्वतन्त्र वातावरण में नारी-कण्ठ सुना है। कण्ठ मधुर है तो रहे ! सुन्दर है तो हो !

तभी सोचने लगा—"हाय रे पशु ! जेल से भागा ! फाँसी का फंदा सामने लटक रहा है ! जिन बुआ की झाँकी एक दिन चाँद में देख-देख कर रोया था, छटपटाया था। जिस कनक के विश्वासघात की याद तुझे तोड़-तोड़कर रख देती है सो उन सबको भूलकर पड़ा ध्यान कर रहा है उस सखी के सौन्दर्य का। उसके मीठे कण्ठ-स्वर का !

तभी उन सीढ़ियों पर किसी की हल्की पदचाप सुन पड़ी और मेरा हाथ जा पड़ा कमर में बंधे पिस्तौल पर। तभी देखा—वे सामने आ खड़ी हुई हैं। एक हाथ में थाली और दूसरे में पानी भरा लोटा। कंधे पर तौलिया पड़ा था।

मैं उठा और उनके हाथ से थाली लेकर एक ओर रख दी। वे बोलीं—

"हाय राम ! गिलास तो भूल ही आई।" और धप्-धम् करती वे नीचे उतर गईं।

मैंने हाथ धोकर तौलिये से पोंछ लिये और चारपाई पर आ बैठा। तब वे गिलास और कपड़े से ढकी थाली में कुछ और लेकर आगईं।

चारपाई की थोड़ी दरी उठाकर वहाँ थाली रखती बोलीं—"खाइये !"

"अच्छा !" कहकर मैं चुपचाप खाने लगा। खाते-खाते मैंने पूछा—
"बुआ जी गई कहाँ ?"
वोलीं—"पहिले भोजन तो करिये !" कहकर उन्होंने मुझे टाल
[दि]या। क्यों टाला ? क्या कुछ अनर्थ हुआ है ? और लगा जैसे रोटी
[का] वह ग्रास कडुवा हो उठा है। कुनीन की गोली की तरह। जैसे-तैसे
[कु]छ ग्रास गले के नीचे उतारकर मैंने थाली सरका दी।

तभी वे वोलीं—"वस !"

"जी !"

"लगता है हमारे घर का भोजन पसन्द नहीं आया !"

"सो वात नहीं है !"

"यह तो मैं भी समझती हूँ।"

"फिर वताइये बुआ कहाँ हैं ?"

"वे चली गईं !"

"इलाहावाद ?"

"नहीं।"

मैं घवराता-सा वोल उठा—"तो फिर !"

तव उस सत्तो ने वताया कि—आपसे जेल में मिलकर जव बुआ
लौटी तो उनकी मुखाकृति अति दयनीय हो गई थी। विना खाये पिये
जमीन पर ही पड़ी रहती थीं।

यह भी वताया था कि जव से उन्होंने गिरफ्तारी की खवर सुनी
तभी से वे जेल की जैसी रूखी रोटी नमक के साथ खाने लगी थीं
धरती पर लेटती थीं। मुझे छुड़ाने के लिये जाने किन-किन वकीलों
मिली थीं।

मेरी गिरफ्तारी के एक महीने वाद ही उनके पिता जी का
दुर्घटना से इलाहावाद में प्राणान्त हो गया था। घर आकर उन्होंने
वगीचा खेत-मेड़ कील-कांटा सव कुछ वेचकर मुझे छुड़ाने के लिये

लड़ा था। फिर फाँसी के दण्ड की खबर सुनी थी। आँगन में सिर पटक-पटक कर रोई थीं। दूसरे दिन पैदल ही मिलाई करने सेन्ट्रल जेल गई थीं।

अन्त में सत्तो ने मुझे बताया—"एक दिन लौटकर उन्होंने अपने सारे कपड़े गेरू में रंग लिये। यह देखकर कुछ गाँव वाले हँसे थे कुछ मन ही मन रो पड़े थे। फिर एक दिन सबने देखा कि सीला दोदी घर में नहीं है। घर में जो कुछ भी था सो सब वहीं ज्यों का त्यों पड़ा था।" कहते-कहते सत्तो ने मेरे चेहरे पर न जाने क्या देखा कि वह एकाएक चुप रह गई।

स्मृति !

दूसरे दिन चलते" समय सत्तो ने कुंकुम अक्षत से मेरा तिलक किया था और हाथ में ढेर सारे रुपये देने लगी थी। मना करने पर भी कैसे रुँधे कंठ से कहा था—"भय्या ! मैं भी तो तुम्हारी छोटी वुआ ही हूँ। मानती हूँ कि शीला दीदी नहीं हो सकती तो मेरी इतनी-सी वात भी आप न मानेंगे ? "सत्तो की डवडाई आँखों को देखते-देखते उन रुपयों को मैंने ले लिया। चलते समय वह द्वार तक आई थी।

जिन करुणा और स्नेह भरी आँखों से चलते समय मेरी उन छोटी वुआ ने मुझे विदा किया था सो मैं कभी नहीं भूल सकता। फिर गाँ से वाहर मार्ग पर चलते समय जाने किस अभिलाषा में मुड़कर मैंने ग की ओर देखा था।

छत पर खड़ी अपनी अंगूरी साड़ी के छोर से वे आँखें पोंछ थीं। चलते-चलते शीला वुआ के घर की ओर मेरी आँखें उठ गईं।

वुआ के घर का वह खुला द्वार देखकर मुझे लगा जैसे वह अनाथ विधवा मालकिन के लिये खड़ा-खड़ा मुँह फाड़े हाहाकार क है। फिर वुआ की उस छत की ओर आँखें चली गईं। वह छ खड़े होकर एक दिन हाथ हिलाते-हिलाते वुआ ने मुझे विदा किय सो वुआ से शून्य उसे मैं अधिक देर तक न देख सका। फिर अ

छोटी बुआ को मुड़-मुड़ कर देखता मैं आगे बढ़ता गया था।

धीरे-धीरे हमारी वे छोटी बुआ आँखों से ओझल होती गईं और थोड़ी-ही देर में वह गाँव भी आँखों से ओझल हो गया। मैं सिर झुकाये अज्ञात दिशा की ओर बढ़ने लगा।

अपने में डूबा-सा मैं बढ़ा चला जा रहा था। सोचने लगा—मेरी बुआ गेरुआ कपड़े पहने, बाल बिखेरे जाने किन-किन तीर्थों में ! कहाँ-कहाँ, भूखी-प्यासी भटक रही होंगी ! सोच-सोचकर आँखें भर आती थीं। आँसू भर उठते थे और अपने उन दुर्दिन के साथियों को बार-बार पोंछ डालता था।

फिर पता नहीं कब मन उड़ता-उड़ता जा पहुँचा कनक के पास।

सोचने लगा—सीधा पहुँचूंगा कनक के पास। एक शब्द भी बिना बोले मैं उसकी गर्दन धर दबोचूंगा। तब वे आँखें फट जायेंगी। और तभी लगा, कहीं कुछ पिघल-सा उठा है।

वे आँखें जिन्हें देखकर मैंने जीवन की कितनी लड़ाइयाँ लड़ी हैं ! वे आँखें जो मेरे लिए कितनी बार रोई हैं। जिनमें कितनी ममता ! कितना स्नेह भरा था ! सो क्या मैं उन्हीं को नष्ट करूँगा ?

उस गर्दन को मैं दबोचूंगा ! जिसमें कितनी बार बाहें डालकर मैं रोया हूँ, उसी गर्दन को ! और पता नहीं कब मैं अपने दोनों हाथों से अपनी ही गर्दन थपथपाने लगा। जैसे वह गर्दन मेरी न होकर कनक की है। और मानो कहीं कठोर हाथों ने उसे मरोड़ डाला हो। लगा जैसे मैं उस मरोड़ को अपनी थपकियों से मिटा डालना चाहता हूँ।

फिर ध्यान आया—और वे आँखें अब अपने उस नये साथी—स्वामी ! पति !! को आँखों में डूब जाती होंगी। उस गर्दन में अब किसी और की बाहें होंगी। वे हाथ ! अब किसी दूसरे के हाथ में होंगे।

सोचते-सोचते मैं अपने दोनों हाथ एक-दूसरे में फंसाकर जोर से भींचने लगा।

इसी प्रकार उसकी स्मृति में पांच वर्ष तक सड़कों, गलियों, बैल-गाड़ी, ताँगों, इक्कों में और कभी नंगे पैर धूल भरी पग-डण्डियों पर भटकता रहा पर कहीं भी कनक को न पा सका ।

अपने कल्पनालोक में कभी उस कनक की गर्दन दबोचता, कभी उस दबोची गर्दन को दुलारता, कभी उसकी याद करके दाँत पीसता, कभी चुपचाप आँसू बहाते-बहाते कहता—"क···न···क ! क····न····क !! यह क्या किया तुमने ? क्या किया क····न····क !"

२७

सिद्धि !

एक दिन एक पुराने साथी से कनक के बारे में समाचार मिला कि उसने दिल्ली के एक सेठ के साथ शादी कर ली है। और अपना नाम बदल लिया है। उस साथी से पता लेकर मैं दिल्ली पहुँचा। फिर वहाँ से पता लगाते मंसूरी आ पहुँचा।

वह सन्ध्या, जिसमे वर्षों बाद कनक को अचानक उसकी कोठी पर आकर देखा था, मैं कभी न भूल सकूँगा।

मैं धीरे-धीरे कोठी पर चढ रहा था। दरबान ने रोकना चाहा। तभी एक खम्भे के सहारे खड़ी कनक ने मुझे देख लिया। मुझे देखते ही वह वहीं की वही खड़ी रह गई। वह दरबान मुझे रोके खड़ा था। क्रोधी सर्प की भान्ति मैं फुंकारने लगा। तभी वही चिरपरिचित काँपता स्वर सुनाई पडा—"आने दो!"

उस समय घर मे सेठजी नही थे। वह मुझे सीधा अपने कमरे में ले गई। संक्षेप में बताया कि—वह अब 'कनक' न होकर बन गई है अभया! उसे भविष्य में 'अभया' या 'छोटी बहू' के नाम से ही पुकारना होगा। फिर जाने कितने नियमों, उपनियमो और कितने ही प्रकार की सावधानियाँ बरतने का आदेश उसने मुझे दिया था।

अनूप बाबू के उस उपन्यास में अपनी छोटी बहू का नया परिचय पाकर मैं स्तब्ध-सी रह गई। मुझे लगा जैसे कापी में लिखे शब्द और पंक्तियाँ कनखजूरों-सी किलकिल करती हिलने-डुलने लगी हैं। मुझे चक्कर-सा आ रहा था।

लगा जैसे मन में बैठा कोई कह रहा है—अरी आरती! ओ हतभागिनी!! तेरे इस शरीर में भी तो भिदा है उस कलंकिनी कल की 'कनक' और आज की 'अभया' का दिया अन्न-पानी। नीच! दुष्टा!! एक दिन क्रान्तिकारिणी बनने का स्वाँग रचा था और जब साथी को फाँसी का दण्ड मिला तो आकर बन गई छोटी बहू! अभया!! पापिन!! पिशाचिनी!!

इसी प्रकार उन छोटी बहू को मन ही मन कोसती मैं अनूप बाबू की कापी पढ़ने लगी—

कनक मेरे लिए जीवन की एक कठिन पहेली बन गई है। एक दिन उसने ऐसा किया था जो कोई किसी को कभी नहीं देता। कभी उसने मुझे 'शिशु' मानकर दुलराया, कभी मैदान से भागा सिपाही मानकर पुनः समराङ्गण में जाकर युद्ध करने के लिए थपथपाया, उकसाया। कभी अन्तर में धधकती ज्वाला को शान्त करने के लिए मेरे सिर को अपनी गोद में छिपाकर सिर सहलाया था।

और अब? आँखों में भरे स्नेह और उमड़ती ममता को दबाकर अपरिचित-सी बनी दूर-दूर रह रही है। अपने में बिल्कुल सन्तुष्ट-सी। सोचता हूँ क्यों आया मैं यहाँ? क्यों?

अपने पति को दिल्ली जाने से रोक दिया। क्यों रोका? फिर स्वयं भी आज उनके साथ जा रही है। आँखों में इतना अपनापन और व्यवहार में इतनी तटस्थता, इतना दुराव। कनक! क्या तुम जीवन-भर इसी प्रकार उलझा-उलझा कर मारती रहोगी? क""न""क! क""न""क! कैसी हो तुम? कैसी? क""न""क!

मुझे आरती को सम्भलवा रही हो। चलते समय उससे कह रही

थी—"आन्टी ! आप यहीं रहिये। अनूप बाबू को सम्भालती रहिये !"

और तुम ! तुम जाओ दिल्ली। यहाँ रंगरलियाँ करने के लिए मैं जो बीच मे 'बाधा का पहाड़' बनकर आ गया हूँ।

जाओ कनक ! मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया लेकिन भगवान् तुम्हें क्षमा न कर सकेगा। न कर सकेगा, कनक ! और तब मैं अपने युग-युग, जन्म-जन्म के संचित पुन्य देकर भी तुम्हें सुखी बनाऊँगा। तुम्हारी गृहस्थी में बाधा न आये इसलिये कल ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा। तुम रहो अपनी इस 'गृहस्थी' में सुखी ! शान्त !! अच्छा कनक ! विदा !

ओ मेरे जीवन-पट के महकते कुसुम ! विदा !

प्रेम, स्नेह, दया और करुणा के केन्द्र बिन्दु ! विदा !

ओ मेरे प्रेरणा-स्रोत ! मेरी जीवन-शक्ति विदा !

कनक ! उस दिन मैंने तुमसे प्यार माँगा था। तुम्हारा भविष्य माँगा था। और तुम आँखों में आँसू छलछलाती चुपचाप बैठी रही थी निर्वाक ! निःशब्द !

मेरी कनक ! मैं तुम्हें जीवन में न पा सका। आज मैंने देवत्व की साँस और अपनी व्यथा के आँसुओं में तुम्हें पा लिया है। आज से कभी इन ओठों पर भी तुम्हारा नाम न आयेगा। आज से मैं पुकारूँगा तुम्हे अपनी गहरी साँसों में ! व्यथाभरी निःश्वासों में !!

अच्छा विदा !

कनक ! विदा !!"

पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखें भर आईं। मेरा कण्ठ रुकने-सा लगा। किसी भी प्रकार मैं उद्वेग को न संभाल सकी। मन का वह उद्वेग आँसू बनकर झर पड़ा। मेरे उन आँसुओं से कापी के कई अक्षर मिट गये। मैंने आँचल से उन आँसुओं को सावधानी से सुखा डाला।

कुछ देर तक स्तब्ध-सी बैठी रही। फिर सोचने लगी—कैसे सह सके होंगे अनूप बाबू इस चोट को ! इतनी बड़ी चोट ! कैसे क्षमा कर सके होंगे उस पापिष्ठा को ! सोचते-सोचते मेरी आँखें मुँद-सी गईं और

जैसे—सामने वाली खिड़की पर वही छाया-चित्र देख रही हूँ। अब अनूप वाबू का हाथ कलम लिये दौड़ रहा है। हाथ रुकता है। आँखों झरती आँखों की वे वड़ी बूँदे।

तभी मुझे लगा जैसे अनूप वावू के कमरे में कोई सिसक रहा है। उठी धीरे से अपने कमरे के क़िवाड़ खोले। उसी चिर-परिचित खिड़की के पास कान लगाये सुनने लगी—सिककियाँ ! फिर शब्द, वाक्य !

कौन वोल रहा है यह ? छोटी वहू ? इतनी रात गये अनूप वावू के कमरे में ? सुनकर 'धक्' हो गया। और मैं सुनने लगी—छोटी वहू का काँपता, सिसकता कण्ठ स्वर—"अनूप ! तुमने मुझ पर अविश्वास किया। घृणा की। 'नीच ! पापिष्ठा !! विश्वासघातिनी !!" कह-कहकर कोसा। मैं चुप रही। पुरुषों के सोचने का ढंग ही यह है सो मैं तुम्हें दोष नहीं देती। सोचती थी कि सव कुछ अपने मन की गहराइयों में छिपाये रहूँगी। चुप रहकर ही सव सहूँगी। अनूप ! सागर को 'असीम', 'अतल' कहते हैं लेकिन सीमा और तल उसके भी होते हैं।

सो अपने मन की जिस गहराई पर मुझे विश्वास था वह भी एक दिन छिछली ही सिद्ध हुई। मेरे मन की सीमा टूट गई। और मैं दिल्ली से दौड़ती-दौड़ती आज अवश-सी होकर आ गई हूँ।

तुम लिखकर अपने मन की व्यथा मिटा लेते हो। मैं क्या करूँ ? कैसे ! कहाँ दिन-रात मन में धधकती इस ज्वाला को शान्त करूँ ? अनूप कितनी वार चाहा कि आत्महत्या कर लूँ ? चाहती थी मरने से पहिले एक वार तुम्हें देख लूँ सो वैसा अव तक न कर सकी। तभी अनूप वावू का आक्रोश भरा स्वर सुन पड़ा—

"कनक ! मूर्ख वनाया जा सकता है कुछ व्यक्तियों को। सो भी कु[illegible] समय के लिए। सवको सव समय के लिये आज तक कोई मूर्ख नहीं व[illegible] सका है। सो तुम भी........" वीच में गहरी साँस छोड़ती छोटी [illegible] वोली—

"अनूप ! क्या शान्त होकर सुन भी नहीं सकोगे ? यही सुनाने

मैं भाज दौड़ी भाई हूँ। इन पाँच वर्षों में लगता है जैसे मुझ में बैठी 'कनक' मर गई है। बात-बात पर मैंने जाने कितने लोगों को झिड़का है। कितनों का कितनी प्रकार से अपमान किया है। कितनो को सामने खड़े रहकर कोड़ों से पिटवाया है। पता नहीं कैसी परघाती वृत्ति ने मुझे ग्रस लिया है ?" तभी अनूप बाबू बोल उठे—

"कनक ! तुम्हें भी वही हुआ है जो सबको होता है। धन, ऐश्वर्य, प्रभुता का मद सब नहीं सह पाते।"

"वैसा नहीं था अनूप ! वैसा नहीं। मुझे गलत मत समझो। ऐश्वर्य का मद मुझ पर कभी नहीं छाया। मैंने अपने दो व्यक्तित्व बना लिये थे। शरीर मैंने बेच दिया था उन्हें। और मन उड़ता रहता था तुम्हारी खोज में। जाने कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे ? तुम्हारी खोज की। किन्तु तुम्हें न पा सकी, न पा सकी।"

अनूप बाबू बीच-ही में बोले —

"और यह मुन्ना ? मन की उपज है या शरीर की ? कनक ! तुम मुझे इतना मूर्ख समझती हो ? अब भी मैं चुपचाप सुने ही जाऊँ ? कनक ! बस ! अब तुम जाओ। बस कनक ! जाओ ! यह मत भूलो कि *अब तुम किसी की पत्नी हो। अर्धांङ्गिनी।"*

तभी वे सिसकती-सी बोलीं—"अनूप ! अनूप मैं तुम्हें अधिक दुःखी नहीं करना चाहती, अब थोड़ी-सी बात शेष है। इतना सुना है तो थोड़ा और सुन लो ! तभी वे बोले—

"अच्छा, कहे जाओ। कनक ! सहता ही आया हूँ सो इतना और सह लूँगा।"

तभी वे बोली—

"अनूप ! तुम्हारी मुखाकृति से मिलता-जुलता मुन्ने का वह नन्हा मुख देख कर मेरा मन एक प्रकार की तृप्ति से भर गया था। मुझे लगा जैसे मैंने तुम्हें पा लिया है। और मेरे अनूप ! अब लग रहा है कि मैं मुन्ना में भी अपना मन रमा नहीं पाऊँगी।"

पाथेय !

तभी 'ठाँय ! ' ठाँय ! !...' गोली चलने की आवाज आई ! साथ ही खिड़की का शीशा खनखनाकर मेरे ऊपर आ गिरा । गोली शीशे को तोड़ कर निकल गई थी । उस कमरे में प्रकाश हुआ । मैं भागती-भागती कमरे के द्वार की ओर गई ।

सेठ जी कमरे के द्वार पर खड़े थे । उनके हाथ में धुआं उगलती पिस्तौल थी । कमरे मे कोई भी न था । सोचने लगी—तो यह दिल्ली से उनके पीछे-पीछे ही दौड़े आये हैं !

उस कमरे को खाली देखकर मैं अवाक्-सी रह गई ! सोचने लगी अभी जिनके कण्ठ-स्वर सुन रही थी सो वे कहाँ गये ? कहाँ गये अनूप बाबू और कनक ! कहाँ हो गये आलोप ?

गोली की आवाज आई ' ठाँय !' और साथ ही सेठ जी का वह पिस्तौल हाथ से छूटकर नीचे जा पड़ा । मेरी आँखें चौंधिया-सी गईं ।

मैंने देखा बिजली जैसी तड़प लिए अलमारी के पीछे से अनूप बाबू उछले और एक ही पकड़ में सेठ जी को धर दबोचा । तब मैं समझ पाई कि अलमारी के पीछे खड़े हैं अनूप बाबू । कनक भी उसी अलमारी के पीछे खड़ी थी । वे भागती-सी बाहर आईं । उन्होंने झपटकर वह पिस्तौल उठा ली । सेठ जी को बाँधकर अनूप बाबू ने एक पलंग पर

तभी अनूप बाबू झुँझला-से पड़े—"कनक ! इतनी नीच हो तुम ! अब उनसे भी तुम्हारा पेट भर गया !"

तभी वे बोलीं—"अनूप ! तुम्हारी ऐसी बातें सुन-सुनकर लगता है जैसे अन्दर ही अन्दर सहस्रों ज्वालामुखी धधक उठे हैं। चाहती थी चुपचाप ही सब सहे जाऊँ पर लगता है कहना ही होगा ! बिना कहे रह न सकूँगी ! अनूप ! जितना नीच तुम मुझे मान बैठे हो उतनी नीच मैं हूँ नहीं !

गाँव-गाँव, शहर-शहर रुपयों के लिये भटक-भटक कर जब हार गई और सुना तुम्हें फाँसी होने वाली है तब आई इन सेठ जी के पास !

मेरे पिताजी के यहाँ इनका आना जाना था। इन्होंने पिताजी के सामने मेरी शादी की बात भी कई बार उठाई थी सो एक लाख का सौदा करके मैंने अपने इस शरीर को बेच दिया था ! बंसी डाकू के एक साथी से सम्पर्क करके वह रुपया..........।"

बीच ही में अनुप बाबू सिसकते से बोल उठे—"कनक !" फिर कुछ समय तक किसी का शब्द भी न सुन पड़ा। सिसकियाँ बढ़ती गईं। तभी छोटी बहू का निषेधभरा रुँधा कंठ सुनाई पड़ा—

"नहीं ! नहीं !! अनूप ! यह शरीर बिक चुका है ! मत छुओ इसे ! मत छुओ अनूप ! अपवित्र ! उच्छिष्ट !!"

फिर सुनाई पड़ा अनूप बाबू का काँपता कंठ—"चुप रहो कनक ! हार मैंने कभी नहीं मानी ! तुम हो मेरी अमूल्य निधि ! पावन ! गंगा-सी पवित्र !!"

"अनूप ! "

"कनक !"

"ठाँय !""ठाँय !!"

स्टोर रूम में गई। मैं वहीं चुपचाप खड़ी थी। मेरे पैर थरथर काँप रहे थे। लग रहा था जैसे कोई अमेरिकन मारधाड़ की फिल्म देख रही हूँ।

मैंने सुना। कनक कह रही थी, "तुमने एक लाख रुपये में मुझे खरीदा था। मेरे शरीर का सौदा किया था वह मैं अब तक निभाती आई। अचानक गोली चलाकर तुमने उस सौदे को तोड़ डाला है। तुमने अपनी गोली से इस शरीर को तोड़ डालना चाहा था। समझ लो अब वह टूट चुका है। अब मैं जाती हूँ उसके साथ जिसने मेरी आत्मा के साथ सौदा किया है! युग-युग के लिए! जन्म-जन्म के लिए!!"

पता नहीं क्यों मुन्ना से तुम्हें घृणा थी! सो उसे भी मैं अपने साथ लिए जाती हूँ।" कहकर दोनों उसी कमरे में लौट आये!!

इतनी बड़ी घटना घट गई किन्तु कनक के मुँह पर मैं देख रही थी एक प्रकार का उल्लास! ऐसी दीप्ति!! जैसी मैंने कभी उनके मुँह पर इससे पूर्व न देखी थी।

वे बोलीं—"आरती! मुन्ना को मैं अपने साथ लिए जा रही हूँ। पता नहीं अब कब हम लोग एक दूसरे को देख सकें!" कहते-कहते उनकी आँखें डबडबा आईं। बोलीं—"आरती! मेरी छोटी-सी बहन!! मुझे हृदय से क्षमा कर देना। तुम्हारे पुण्यों से ही मैं फिर अनूप को पा सकी हूँ। यदि तुम मेरी अनुपस्थिति में इन्हें न सम्भालतीं तो अवश्य पाकर भी मैं खो देती।

डाल दिया।

मैंने देखा वह धाय माँ कोठी के फाटक की ओर भागी जा रही है। कनक ने झपट कर हवाई फायर किया और साथ ही आवाज दी! "लौटो!" धाय माँ चुपचाप लौट पड़ी।

कनक और अनूप बाबू ने धाय माँ और उस मदरासी रसोइये के हाथ-मुंह बन्द करके कोने वाली कोठरी में डाल दिया। किवाड़ बन्द कर के ऊपर से ताला डाल दिया। पास वाले स्टोर रूम में सेठ जी को बन्द कर दिया गया।

उस क्रान्तिकारिणी कनक ने अनुमान लगा लिया था कि गोलियों की आवाज सुनकर इधर-उधर घूमती पुलिस को शक हो सकता है। अपना शक मिटाने के लिए वह कोठी में भी आ सकती है। इसलिए उस ने सब को बाँध-बूंधकर छिपा दिया था।

थोड़ी ही देर में हम लोगों ने देखा कि एक पुलिस इन्स्पेक्टर के साथ चार सिपाही धमधमाते कोठी के ऊपर चढ़ रहे हैं। अनूप बाबू खिड़की से से कूदकर बाहर आये और कलियुगी हनुमान की भाँति एक छलांग में खिड़की पर पैर रखते हुए बाहरी छज्जा को पकड़ कर कमरे की छत पर जा पहुँचे।

तभी कनक आगे बढ़कर खिलखिला पड़ी और हँसती हुई बोली—"Oh! I am very sorry Inspector. I was just testing my new pistol."

इन्स्पेक्टर ने कहा—"Really we were surprised!"

तभी अपनी पिस्तौल थपथपाती कनक बोली—"Excuse me for the trouble I gave you".

वह बोला—"That's alright madam. Don't worry for that!" कहता-कहता वह अपनी टुकड़ी लिए वापस चला गया।

अनूप बाबू छत से नीचे उतर आये। कनक अनूप बाबू को लेकर

स्टोर रूम में गई। मैं वहीं चुपचाप खड़ी थी। मेरे पैर थरथर काँप रहे थे। लग रहा था जैसे कोई अमेरिकन मारधाड़ की फिल्म देख रही हूँ।

मैंने सुना। कनक कह रही थी, "तुमने एक लाख रुपये में मुझे खरीदा था। मेरे शरीर का सौदा किया था वह मैं अब तक निभाती आई। अचानक गोली चलाकर तुमने उस सौदे को तोड़ डाला है। तुमने अपनी गोली से इस शरीर को तोड़ डालना चाहा था। समझ लो अब वह टूट चुका है। अब मैं जाती हूँ उसके साथ जिसने मेरी आत्मा के साथ सौदा किया है! युग-युग के लिए! जन्म-जन्म के लिए!!"

पता नहीं क्यों मुन्ना से तुम्हें घृणा थी! तो उसे भी मैं अपने साथ लिए जाती हूँ।" कहकर दोनों उसी कमरे में लौट आये!!

इतनी बड़ी घटना घट गई किन्तु कनक के मुँह पर मैं देख रही थी एक प्रकार का उल्लास! ऐसी दीप्ति!! जैसी मैंने कभी उनके मुँह पर इससे पूर्व न देखी थी।

वे बोलीं—"आरती! मुन्ना को मैं अपने साथ लिए जा रही हूँ। पता नहीं अब कब हम लोग एक दूसरे को देख सकें!" कहते-कहते उनकी आँखें डबडबा आईं। बोलीं—'आरती! मेरी छोटी-सी बहन! तुम मुझे हृदय से क्षमा कर देना। तुम्हारे पुण्यों से ही मैं फिर अनुज को पा सकी हूँ। यदि तुम मेरी अनुपस्थिति में इन्हें न सम्हालतीं तो अवश्य ही इन्हें पाकर भी मैं खो देती।

आरती!, हम लोगों के मार्ग भिन्न हैं। [illegible] है! और तुम हो भावुक कलाकार! लेखिका! कवियित्री! [illegible]!!

कभी सुनो कि हम लोग ब्रिटिश सरकार की [illegible] से मारे गये हैं या फाँसी के फंदे में लटका दिये गये हैं तब [illegible] हम लोगों का [illegible] पर अपने इस मुन्ने को अवश्य [illegible]!" कहती-कहती वे मुन्ना के कमरे में गईं।

[illegible]

अतुल शक्ति कहां से आ गई भगवान् !

वे आगे बढ़ी और मेरी पीठ थपथपाती कोठी के द्वार की ओर चल दीं। तभी वे अनूप बाबू मेरी ओर धीरे-धीरे आये और मेरे कंधों पर दोनों हाथ रखकर बोले—

"आरती !"

"जी !"

"लगता है हमारी यह विदा अंतिम विदा नहीं है।"

"भगवान करे ऐसा ही हो।"

"आरती ! हमारे जाते ही तुम भी यह कोठी छोड़ देना। पुलिस तुम्हें भी तंग कर सकती है।"

"अच्छा, छोड़ दूँगी।"

फिर मेरे कन्धों को थपथपाते अनूप बाबू चले गये थे।

तब ध्यान आया मुझे उस मुन्ना का। जैसे सोते से जाग पड़ी हूँ। मैं विक्षिप्ता-सी दौड़ी-दौड़ी मुन्ना के पास गई। उस सोते मुन्ना के हाथ अपने गालों पर कुछ देर रक्खे रही। तभी कनक बोली—

"अच्छा बहिन ! अब चलें।" कहती हुई वे आगे बढ़ गई थीं। वे दोनों सिर झुकाये चुपचाप चले जा रहे थे। अनूप ने मुड़कर रात-की उस अंधेरी में मेरी ओर देखा और मैंने एक हाथ उठाकर हिला दिया। अपने उस हाथ को उठाये तब तक हिलाती रही जब तक वे तीनों उस अन्धकार में अदृश्य नहीं हो गये।

फिर धरती से माथा टेक कर उन्हें प्रणाम किया और जहां से वे गये थे वहां से उनकी पग-धूल उठाकर अपने माथे पर लगा ली।

तब वहीं खड़ी आँसू बहाती सोचने लगी—लगता है जैसे मेरा समस्त जीवन आंसूओं का गीत है। क्या जीवनभर निःशब्द, निर्वाक् इसी गीत को गाये जाना होगा ? क्या मरते दम तक अपना कहने लायक किसी को भी न पा सकूंगी ? जिन्हें पाऊंगी भी सो क्या इसी तरह छोड़कर चले जायेंगे ? सब कुछ भाग्य के निविड़ अंधकार में विलुप्त हो जायगा ?

ओ जगत् नियन्ता ! ! यह कैसी है तेरी दुनियाँ ? यह कैसा है तेरा सृजन ? कब तक मैं इसमें इसी प्रकार बहती रहूँ ? निराश्रित ! निरालम्ब ! हे त्रिकालदर्शी ! कहाँ है वह मेरा पाथेय ? जिसके सहारे मैं अपने जीवन-पथ पर बढ़ती जाऊँ ? ऐसा पाथेय ? जिसके सहारे चलकर अनूप बाबू ने कनक को पा लिया। ऐसा पाथेय ! जिसके सहारे वह विद्रोहिणी कनक, वेद-मन्त्रों से बाँधे गये अपने पति को त्याग कर अनूप बाबू के साथ चली गई।

जिस राह से अनूप बाबू गये थे उसी ओर देखती-देखती सोचने लगी—उनसे इतना भी तो न कह पाई—'जेते आमि दिबो ना तोमाय' (तुम्हें जाने न दूँगी) मेरे हृदय की वह विवश हूक आँसू बन-बनकर बरसने लगी—

मुझे लगा जैसे मन में बैठा कोई कह रहा है—आरती ! यह सच है कि आज तेरा सब कुछ खो गया है। तुझसे सब कुछ छिन गया है। वह ! जिसे तू मन-ही-मन अपना बैठी थी। जो अपनी नन्हीं-नन्हीं बाहें तेरे गले में डालकर कहता था—"आरती ! मुझे छोड़कर जाना नहीं।" वह भी ! जिसके चरणों पर अनजाने ही तू अपना सब कुछ अर्पित कर बैठी थी। जिसके छाया चित्र को देख-देखकर कितनी रातें तूने रो-रोकर बिताई थीं। जो सम्मोहन की भाँति तुझ पर छा गया था—सोचते-सोचते मेरी आँखें छलछला आईं।

मन जैसे कहे जा रहा था—आरती ! ओ हतभागिनी ! अरी रोती क्यों है ? सब कुछ खोकर भी आज तूने जीवन का एक सत्य तो पा लिया है, कि जिसे आज तक तू समझ रही थी विश्वासघातिनी पापिष्ठा ! सो निकली वह त्यागमयी कनक !

तब याद आई वह रात ! 'रिवीरा' होटल के सामने वाली पहाड़ी से अनूप बाबू के साथ लौट रही थी। चाँदनी में डूबी मंसूरी की वे छोटी पहाड़ियाँ, जिनमें सफेद-सफेद बादल भर गये थे। और वे सफेद बादल बिलकुल झील की भाँति उस चाँदनी में झिलमिला उठे थे। मैं उस ओर

...ल शक्ति कहाँ से आ गई भगवान् !

वे आगे बढ़ी और मेरी पीठ थपथपाती कोठी के द्वार की ओर चल ...ीं। तभी वे अनूप बाबू मेरी ओर धीरे-धीरे आये और मेरे कंधों पर दोनों हाथ रखकर बोले—

"आरती !"

"जी !"

"लगता है हमारी यह विदा अंतिम विदा नहीं है।"

"भगवान करे ऐसा ही हो।"

"आरती ! हमारे जाते ही तुम भी यह कोठी छोड़ देना। पुलिस तुम्हें भी तंग कर सकती हैं।"

"अच्छा, छोड़ दूँगी।"

फिर मेरे कन्धों को थपथपाते अनूप बाबू चले गये थे।

तब ध्यान आया मुझे उस मुन्ना का। जैसे सोते से जाग पड़ी हूँ। मैं विक्षिप्ता-सी दौड़ी-दौड़ी मुन्ना के पास गई। उस सोते मुन्ना के हाथ अपने गालों पर कुछ देर रखते रही। तभी कनक बोली—

"अच्छा बहिन ! अब चलें।" कहती हुई वे आगे बढ़ गई थीं। ... दोनों सिर झुकाये चुपचाप चले जा रहे थे। अनूप ने मुड़कर रात-... उस अंधेरी में मेरी ओर देखा और मैंने एक हाथ उठाकर हिला दि... अपने उस हाथ को उठाये तब तक हिलाती रही जब तक वे तीनों अन्धकार में अदृश्य नहीं हो गये।

फिर धरती से माथा टेक कर उन्हें प्रणाम किया और जह... गये थे वहाँ से उनकी पग-धूल उठाकर अपने माथे पर लगा ली।

तब वहीं खड़ी आँसू बहाती सोचने लगी—लगता है जैसे मेर... जीवन आँसूओं का गीत है। क्या जीवनभर निःशब्द, निर्वाक् ... को गाये जाना होगा ? क्या मरते दम तक अपना कहने लायक ... भी न पा सकूंगी ? जिन्हें पाऊँगी भी तो क्या इसी तरह छो... जायेंगे ? सब कुछ भाग्य के निविड़ अंधकार में विलुप्त हो जा...

ओ जगत् नियन्ता ! ! यह कैसी है तेरी दुनियाँ ? यह कैसा है तेरा सृजन ? कब तक मैं इसमें इसी प्रकार बहती रहूँ ? निराश्रित ! निरालम्ब ! हे त्रिकालदर्शी ! कहाँ है वह मेरा पाथेय ? जिसके सहारे मैं अपने जीवन-पथ पर बढ़ती जाऊँ? ऐसा पाथेय ? जिसके सहारे चलकर अनूप बाबू ने कनक को पा लिया। ऐसा पाथेय ! जिसके सहारे वह विद्रोहिणी कनक, वेद-मन्त्रों से बाँधे गये अपने पति को त्याग कर अनूप बाबू के साथ चली गई।

जिस राह से अनूप बाबू गये थे उसी ओर देखती-देखती सोचने लगी—उनसे इतना भी तो न कह पाई—'जेते आमि दिबो ना तोमाय' (तुम्हें जाने न दूँगी) मेरे हृदय की वह विवश हूक आँसू बन-बनकर बरसने लगी—

मुझे लगा जैसे मन में बैठा कोई कह रहा है—आरती ! यह सच है कि आज तेरा सब कुछ खो गया है। तुझसे सब कुछ छिन गया है। वह ! जिसे तू मन-ही-मन अपना बैठी थी। जो अपनी नन्हीं-नन्हीं बाहें तेरे गले में डालकर कहता था—"आरती ! मुझे छोरकर जाना नहीं।" वह भी ! जिसके चरणों पर अनजाने ही तू अपना सब कुछ अर्पित कर बैठी थी। जिसके छाया चित्र को देख-देखकर कितनी रातें तूने रो-रोकर बिताईं थीं। जो सम्मोहन की भांति तुझ पर छा गया था—सोचते-सोचते मेरी आँखें छलछला आईं।

मन जैसे कहे जा रहा था—आरती ! ओ हतभागिनी ! अरी रोती क्यों है ? सब कुछ खोकर भी आज तूने जीवन का एक सत्य तो पा लिया है, कि जिसे आज तक तू समझ रही थी विश्वासघातिनी पापिष्ठा ! सो निकली वह त्यागमयी कनक !

तब याद आई वह रात ! 'रिवीरा' होटल के सामने वाली पहाड़ी से अनूप बाबू के साथ लौट रही थी। चाँदनी में डूबी मंसूरी की वे छोटी पहाड़ियाँ, जिनमें सफेद-सफेद बादल भर गये थे। और वे सफेद बादल बिलकुल झील की भाँति उस चाँदनी में झिलमिला उठे थे। मैं उस ओर

से पूर्व कभी न गई थी सो उन बादलों को झील ही मान बैठी थी।
तब अनूप बाबू ने कहा था—"आरती ! सत्य वही नहीं है जिसे हमारी आँखें देखती हैं। सत्य उससे भिन्न भी हो सकता है। कितना कठिन है सत्य को पा लेना।"

वहीं खड़ी-खड़ी सोचने लगी—अनूप बाबू की उस बात को पकड़ कर बंसी डाकू में छिपे मानव को देख पाती। इस सत्य को किसी भाँति जीवन में उतार पाती।

तभी आकाश की ओर देखती रुँधे कण्ठ से बोल उठी—"हे भगवान् ! यदि सच्चे मन से मैंने उन्हें प्यार किया हो तो इस सत्य के प्रति आस्था ही मेरे पावन प्रेम का प्रतिदान हो। यही हो मेरे जीवन का पाथेय।"